

अङ्गिरा अग्नि रूप है, जो विकासशील है। भृगु संकोचशील है जो स्नेहधर्मा है और यम उष्ण और शीत के बीच अनुष्ण-अशीत है। इनका वर्णन यजुर्वेद में हुआ है।

अङ्गिरसो नः पितरो नवगवा अथर्वाणो भृगवः सौम्यासः ।—यजुर्वेद १९, ५०
तेर्भर्यमः संरराणो हवींष्युशनुशदिभः प्रतिकाममतु ॥—यजुर्वेद १९/५१

इनमें अङ्गिरा अवर पितर है, भृगु पर पितर है और यम मध्यम पितर है। अङ्गिरा का सम्बन्ध दक्षिण से है क्योंकि दक्षिण भाग अग्निप्रधान होता है। दक्षिण भाग नीचा रहता है इसलिये वहाँ के पितर अवर पितर हैं। भृगु पितर परपितर है। सोम का स्थान उत्तर में है और उत्तर का अर्थ ऊँचा है इसलिये भृगु पितर को पर पितर कहा जाता है। यम इन दोनों के बीच में है। अग्नि और सोम के भी दो-दो रूप हैं ऋत-सत्य। ऋताग्नि वायु रूप है। इसका सम्बन्ध दक्षिण से है। सत्याग्नि सूर्य पिण्ड है। इसका सम्बन्ध पूर्व से है। ऋत सोम रस रूप है। इसका सम्बन्ध उत्तर से है। सत्य सोम चन्द्र पिण्ड है। इसका सम्बन्ध पश्चिम से है। सोम के अनेक रूपों में से सह नाम के सोम का सम्बन्ध पितरों से है। २८ नक्षत्रों के सम्बन्ध से यह सह-सोम २८ अवस्थाओं में परिणत होता है। इस सह-सोम की तीन अवस्थाएँ हैं। घन अवस्था का नाम रेतः है जिसे हम शुक्र नाम से जानते हैं। तरल अवस्था का नाम श्रद्धा है जिसे हम आपः नाम से जानते हैं। विरल अवस्था का नाम यशः है जिसे हम प्राण नाम से जानते हैं। यह सह नाम का सोम-बल वंशानुक्रम से पूर्वजों से पुरुष को प्राप्त होता है। इस प्रकार उस पर पितरों का ऋण रहता है इस ऋण को चुकाने का उपाय श्रद्धा है। श्रद्धा भी सोम का ही तरल रूप है। यह अपनी तरलता के कारण पितरों को श्रद्धापूर्वक अर्पित किये गये पदार्थ हैं।

सात पितर

दिव्य पितर सात हैं, जिनमें से तीन अन्न पितर हैं और तीन अन्नाद पितर हैं। अन्न तीन प्रकार का है उष्ण, शीत और अनुष्ण-अशीत। पहले कहा जा चुका है कि उष्ण द्रव्य से युक्त आग्नेय पितर अग्निष्वात्ता कहलाते हैं तथा अनुष्ण-अशीत से युक्त याम्य पितर बहिर्षद् कहलाते हैं। अन्नाद पितर भी तीन प्रकार के हैं, क्योंकि भोग्य पदार्थ तीन प्रकार के हैं—घन, तरल विरल, घन पदार्थों के भोक्ता हविर्भुज कहलाते हैं तरल पदार्थों के भोक्ता आज्यपा कहलाते हैं और विरल पदार्थों के भोक्ता सोमपाः कहलाते हैं। अन्न पितर सौम्य हैं, अन्नाद पितर आग्नेय हैं। इन दोनों के बीच में याम्य पितर हैं जो न अन्न रूप हैं न अन्नाद रूप हैं। इनका नाम शुकाल है, ये पदार्थ को स्तम्भित रखते हैं।

ये सातों प्राण देवों को उत्पन्न करते हैं इसलिये इन्हें दिव्य पितर कहा जाता है। ये सातों प्राण स्वयं ऋषियों से उत्पन्न होते हैं—अग्निष्वात्त भृगु से उत्पन्न होते हैं, बहिर्षत् अङ्गिरा से उत्पन्न होते हैं, और सोमषत् अत्रि से उत्पन्न होते हैं। समष्टिरूप में इन तीनों की प्रतिष्ठा भृगु ऋषि है। हविर्भुक् पितर पुलह ऋषिप्राण से मिश्रित अङ्गिरा ऋषि से उत्पन्न होते हैं। आज्यपाः पितर कदर्दम प्राणगर्भितपुलस्यऋषि से उत्पन्न होते हैं और सोमपा अन्नाद पितर विराट्प्राणगर्भित भृगु ऋषि से उत्पन्न होते हैं। समष्टि रूप में अन्न पितरों की प्रतिष्ठा अङ्गिरा ऋषि हैं। शुकाली नाम के पितरों

का उपादान वसिष्ठ प्राण है। इस प्रकार अन्न पितर भृगु से, अन्नाद पितर अङ्गिरा से और शुकाली पितर वसिष्ठ से उत्पन्न होते हैं। इसमें अन्नाद पितर पर हैं, अन्न पितर मध्यम हैं और अनुभय पितर अवर हैं। हविर्भुज पितरों का देवता इन्द्र है। ये क्षत्रियों के पितर हैं। आज्यपा पितरों के देव वैष्णवदेव हैं। ये वैश्यों के पितर हैं। सोमपा पितरों के देव अग्नि हैं, ये ब्राह्मणों के देव हैं और शुकाली पितरों के देव पूषा हैं ये शूद्रों के देव हैं। पितरों का देवताओं से सम्बन्ध इस रूप में जानना चाहिये कि सोम अन्न है, अग्नि अन्नाद है। यम-वायु अङ्गिरस है। अङ्गिरा की ही अवस्था अग्नि है, इसलिये यम का अन्तर्भाव अग्नि में हो जाता है। अङ्गिरस के तीन रूप हैं, अग्नि, वायु और आदित्य जिनका सम्बन्ध वसु, रुद्र और आदित्य देवताओं से हैं। इस प्रकार देवता पितरों से जुड़े हुए हैं।

सृष्टि के पितर

समष्टि के सन्दर्भ में भी पितरों का स्वरूप समझा जा सकता है। सृष्टि की सातवीं पीढ़ी वृद्धातिवृद्धप्रपितामह है। ये अव्यय पुरुष हैं। छठी पीढ़ी अतिवृद्धप्रपितामह है, जो अक्षर पुरुष है। हिरण्यगर्भ प्रजापति पाँचवीं पीढ़ी वृद्धप्रपितामह है। मनु चौथी पीढ़ी प्रपितामह है और सप्तऋषि तीसरी पीढ़ी पितामह है तथा पितर पिता है और सारी सृष्टि पुत्र है। ऊपर जैसा कहा गया है पितर देवता और असुरों के बीच की स्थिति है। इन्द्र तत्त्व ज्योतिरूप है, भृगु तत्त्व सोम रूप है, वरुण तत्त्व आपः है। इन्द्र से देवता जुड़े हैं, जो प्रकाश रूप हैं। भृगु से पितर जुड़े हैं, जो छाया रूप हैं और वरुण से असुर जुड़े हैं, जो अन्धकार रूप हैं। इसी दृष्टि से पितरों को कूप कहा गया है, क्योंकि कूप में न तो पूरी तरह प्रकाश होता है, न पूरी तरह अन्धकार होता है—*पितृदेवत्वो वै कूपः खातः (शतपथ ३/६/१/१३)* ।

ऋतु पितर

जो भी उत्पन्न करता है वह पितर है। सृष्टि में उत्पत्ति में ऋतुओं का गहरा हाथ है। इसलिये ऋतु भी पितर कहलाती है। हमने ऊपर सूर्य, चन्द्र और अग्नि, सोम का उल्लेख किया है। अग्नि और सोम सम्बन्ध ही यज्ञ है। यह यज्ञ सृष्टि में चल रहा है और उसी से ऋतुओं की उत्पत्ति हो रही है। ये ऋतुएँ सृष्टि को जन्म देती हैं।

*ऋतवो वा असृज्यन्त । ते सृष्टा नानैवासन् ।
तेऽब्रुवन् स वा इत्थं सन्तः शक्ष्यामः प्रजनयितुम् ।
रूपैः समायामेति । त एकैकमृतुं रूपैः समायन्
तस्मादेकैकस्मिन् ऋतौ सर्वेषां ऋतूनां रूपम्*

—शतपथ ८/७/१/२-३

अभिप्राय यह है कि एक ऋतु में भी सब ऋतुएँ रहती हैं। वसन्त, ग्रीष्म इत्यादि ऋतुओं का विभाजन केवल प्रधानता की दृष्टि से किया गया है अन्यथा अग्नि और सोम का सामञ्जस्य प्रत्येक क्षण में होता रहा है। अग्नि का सम्बन्ध उष्ण ऋतु से है सोम का सम्बन्ध शीत ऋतु से है। उष्ण

ऋतु के तीन भाग हो जाते हैं—वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा। सोम के भी तीन भाग हो जाते हैं—शरद्, हेमन्त और शिशिर। अग्नि की बाल्य-अवस्था वसन्त है, युवा अवस्था ग्रीष्म है और वृद्धावस्था वर्षा है। इसी प्रकार सोम की बाल्य-अवस्था शरत् है युवा-अवस्था हेमन्त है और वृद्धावस्था शिशिर है। इस प्रकार अग्नि और सोम के उतार चढ़ाव से ही ऋतुओं की उत्पत्ति होती है। पहले कहा जा चुका है कि हमारे अन्न में चार भाग रहते हैं—घृत, मधु, दधि और अमृत। शरद् ऋतु में घृत का जन्म होता है, वसन्त में मधु का, हेमन्त में दधि का और शरद् में अमृत का आविर्भाव होता है। इस प्रकार ये ऋतुएँ अन्न में आवश्यक तत्वों को उत्पन्न करके हमारा भरण-पोषण करने के कारण पितर कहलाती हैं। इनमें भी वसन्त, ग्रीष्म, और वर्षा को देव ऋतु, शरद्, हेमन्त और शिशिर को पितर ऋतु कहा है। इतना ही नहीं देव और पितर की व्यापक परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जो भरता है वह देव है, जो क्षय करता है वह पितर है। इस दृष्टि से दिन देव है, रात्रि पितर है। इस प्रकार देवता और पितर का विभाजन बहुत व्यापक है।

वसन्तो ग्रीष्मो वर्षाः - ते देवा ऋतवः । शरद्धेमन्तः शिशिरस्ते पितरो य एवापूर्व्यतेऽर्धमासः, स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रिः पितरः पूर्वाह्नो देवा अपराह्नः पितरः ।..... यत्रोदगावर्त्तते देवेषु तर्हि भवति । अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, पितृषु तर्हि भवति । अमृता देवाः अपहतपाप्मानो देवाः । मर्त्याः पितरः, अनपहतपाप्मानः (शतपथ २/३/१/२/४) ।

अग्नि प्रधान ऋतुएँ अवर पितर हैं, सोम प्रधान ऋतुएँ पर पितर हैं और मध्यस्थ मध्यम पितर हैं। इस प्रकार वसन्त और ग्रीष्म अवर पितर हैं, वर्षा और शरद् मध्यम पितर हैं तथा हेमन्त और शिशिर पर पितर हैं। ऋतुओं का भी वंशवृक्ष है। संवत्सर वृद्धातिवृद्धप्रपितामह है, शिशिर अतिवृद्धप्रपितामह है, हेमन्त वृद्धप्रपितामह है। शरद् पितामह है वर्षा पितामह है, ग्रीष्म पिता है और वसन्त पुत्र है। यदि इन ऋतुओं का दिव्य पितरों से सम्बन्ध जानना चाहें तो इस प्रकार समझा जा सकता है कि सोमपा पितर ग्रीष्म है, हविर्भुज पितर वर्षा है, सोमसद् पितर शरत् है, बर्हिषद् पितर हेमन्त है और अग्निष्वात्ता पितर शिशिर है।

त्रिलोकी में पितर

नान्दीमुख पितर दिव्य पितर हैं जिनका सम्बन्ध द्यौ से है। पार्वण पितर अन्तरिक्ष के है, जिनका सम्बन्ध ऋतु पितरों से है। सृष्टि सञ्चालन इन दोनों पितरों का मुख्य काम है। तीसरे पितर प्रेत पितर हैं जिनका नाम अश्रुमुख है। इनका लोक पृथ्वी लोक है, ये कर्म पितर हैं। ये अश्रुमुख पितर अन्तरिक्ष में पार्वण पितरों में और द्यौ लोक में नान्दीमुख पितरों में समाविष्ट हो जाते हैं।

अग्नि, यम और सोम तीनों लोकों में प्रतिष्ठित हैं। पृथ्वी में ये क्रमशः सावित्र, शुचि और ब्रह्मणस्पति कहलाते हैं। अन्तरिक्ष में धिष्य, पावक और गन्धर्व कहलाते हैं तथा पृथ्वी में गायत्र, पवमान और दिक् सोम कहलाते हैं। दिव्यों पितरों की गति पृथ्वी की तरफ रहती है। अन्तरिक्ष के पितर तिर्यक् गति होते हैं। अश्रुमुख पितर द्यौ लोक की ओर गति करते हैं। इसीलिये पार्थिव अग्नि ऊपर की ओर आती है, सावित्र अग्नि पृथ्वी की ओर आती है। इन आने जाने को ही ऐति-प्रेति कहा जाता है। इसी ऐति प्रेति के कारण पितरों को प्रेत कहते हैं। दिव्य पितर सोम प्रधान

हैं ऋतु पितर यम प्रधान हैं, अश्रुमुख पितर अग्नि प्रधान हैं। इनमें प्रत्येक की ऊपर बताया गयी सात अवस्थाएँ होती हैं। अग्नि के भी तीन रूप हैं—पार्थिव, आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य। इन तीनों को क्रमशः गायत्राग्नि, नाक्षत्रिकाग्नि और सावित्राग्नि कहा जाता है। आन्तरिक्ष्य सोम गन्धर्व है और पार्थिव दिक् सोम है। इन तीन अग्नियों तथा तीन सोमों से सम्बद्ध तीन-तीन पितर तीनों कोटियों में होकर १८ पितर हो जाते हैं। जहाँ तक यम का सम्बन्ध है उसकी तीन कोटियाँ नहीं बनती हैं। पृथ्वी का यम पवमान, अन्तरिक्ष का यम पावक और दिव्य यम शुचि कहलाता है। इन तीनों से सम्बद्ध तीन पितर जुड़कर ३१ पितर हो जाते हैं। सोम का स्थान परमेष्ठी है। यही प्रद्यौ कहलाता है। यही पितरों का अपना लोक है। जैसा कि यजुर्वेद में कहा है—*तृतीयाह प्रद्यौ यस्यां पितर आसते*। पितर प्रजा के उत्पादक हैं।

त्रिगुणात्मक पितर

उत्पत्ति में तीन अनुबन्ध रहते हैं—इच्छा, तप, और श्रम, जिनका सम्बन्ध मन, प्राण और वाक् से है। मन का सम्बन्ध ज्ञानमूर्ति अव्यय से है। क्रिया का सम्बन्ध प्राणमूर्ति अक्षर से है और तप का सम्बन्ध अर्थमूर्ति क्षर से है। सोम प्रधान ज्ञानमूर्ति नान्दीमुख ज्ञान के अधिष्ठाता है। इन्हीं से इच्छा जुड़ी है। वायुप्रधान क्रियामूर्ति ऋतु पितर तप से जुड़े हैं। अग्निप्रधान अर्थमूर्ति प्रेत पितर श्रम से जुड़े हैं। इस प्रकार तीनों पितर मिलकर सृष्टि की उत्पत्ति करते हैं। इन तीनों में क्रमशः तीन गुण मुख्य हैं—ज्ञानप्रधान नान्दीमुख पितरों में सत्त्व प्रधान है, क्रिया प्रधान ऋतु पितरों में रजोगुण प्रधान है तथा अर्थ प्रधान प्रेत पितरों में तमोगुण प्रधान है। ये तीनों पितर तीन प्रकार की सृष्टियों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि नान्दीमुख पितर द्यौ लोक से जुड़े हुए है, तीनों पितरों के तीन देवता सहयोगी हैं—अत्रि के साथ सोम, अङ्गिरा के साथ अग्नि और भृगु के साथ यम का सम्बन्ध होने पर क्रमशः सोमसद् अग्निष्वात्त और वैभ्राज पितरों को उत्पत्ति होती है। नान्दीमुख पितर तीन हैं। ये तीन ऋषियों से, तीन देवताओं का सम्बन्ध होने पर उत्पन्न होते हैं।

पार्वण पितरों में हविर्भुज पितरों का सम्बन्ध ग्रीष्म ऋतु से है, आज्यपा पितरों का सम्बन्ध वर्षा ऋतु से है, सोमपा पितरों का सम्बन्ध शीत ऋतु से है। ये चन्द्रमा के प्रकाश में रहते हैं, सौर प्रकाश में नहीं रह सकते। इस प्रकार चार पार्वण पितर चार देवताओं, चार ऋषियों और चार वर्णों से जुड़े हैं। प्रेत पितर वे पितर हैं, जिनका सम्बन्ध हमारे पूर्वजों से है।

इन प्रकार इस अधिकरण में हमने देवता शब्द का एक व्यापक अर्थ लेकर देव, ऋषि, पितर तथा छन्दों का तात्त्विक रूप बताया है। अब अगले अधिकरण में वेदों का तात्त्विक रूप निरूपित होगा।

षष्ठ अध्याय

तत्त्ववेदाधिकरण

शास्त्रों में वेद से सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। मनु का यह वचन इस सम्बन्ध में सबसे अधिक स्पष्ट है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध वेद से ही उत्पन्न हुए—

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।

वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ (मनुस्मृति १२.१८)

दूसरी ओर ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति हुई, ऐसा उपनिषदों में बारम्बार कहा गया है। उपनिषदों की इस घोषणा को आधार बनाकर ब्रह्मसूत्र ने कहा कि ब्रह्म का लक्षण है जिससे संसार की उत्पत्ति आदि होती है—जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र १/१२)। वस्तुतः वेद और ब्रह्म शब्द पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसीलिये जैमिनीयब्राह्मणोपनिषद् कहता है—वेदो ब्रह्म (जैमिनीय ब्राह्मणोपनिषद् ४.११.४.३) ब्रह्मतत्त्व के पर्यायवाची के रूप में ही तैत्तिरीयब्राह्मण ने वेदों को अनन्त कहा है—अनन्ता वै वेदाः (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१०.११.३)। वेद नामक ग्रन्थ चार हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति (गोपथ ब्राह्मण १.२.१६)। इन चारों वेदों में तीन प्रकार के वचन हैं—ऋक्, यजुः और साम। जो छन्दोबद्ध है वह ऋक् है, जो संगीतबद्ध है वह साम है और शेष गद्य यजुः है। तैत्तिरीय संहिता कहती है ऋक् भी परिमित है साम भी परिमित है यजुः भी परिमित है, केवल एक ब्रह्म ही ऐसा है जिसका कोई अन्त नहीं है—परिमिता वा ऋचः परिमितानि सामानि यजूंष्यथैतस्यैवान्तो नास्ति यद्ब्रह्म (तैत्तिरीय संहिता ७.३.१.४)। अभिप्राय स्पष्ट है कि प्रतिपादक वचन चाहे वे छन्दोबद्ध हैं, चाहे संगीतबद्ध, चाहे गद्यात्मक, सीमित हैं, किन्तु उनका प्रतिपाद्य ब्रह्म अपरिमित है।

वेद तथा ब्रह्म की सच्चिदानन्दात्मकता

ब्रह्म को हम सच्चिदानन्द मानते हैं। इधर सायणाचार्य ने वेद शब्द की व्युत्पत्ति देते समय तीन विद् धातुओं का उल्लेख किया है—एक विद् का अर्थ है—ज्ञान, दूसरे का अर्थ है—सत्ता, तीसरे का अर्थ है—लाभ। एक चौथी भी विद् धातु है जिसका अर्थ है—विचार। इस प्रकार वेद

का अर्थ है सत्ता, ज्ञान और लाभ अथवा आनन्द । वेद भी ब्रह्म की तरह सच्चिदानन्द ही है । सायण कहते हैं—

विद् ज्ञाने, विद् सत्तायाम्, विदलृ लाभे, विद् विचारणे एतेभ्यो हलश्चेतिसूत्रेण करणाधिकरणयोर्धञ् प्रत्यये कृते वेदशब्दः साध्यते । विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति, विन्दन्ति...विचारयन्ति सर्वे मनुष्याः सर्वाः सत्या विद्या यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च भवन्ति ते वेदाः

सत्तायां विद्यते, ज्ञाने वेत्ति विन्दते विचारणे ।

विन्दते विन्दति प्राप्तौ श्यन्लुक-श्नम् शेषदः क्रमात् ।

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ. २५)

इस प्रकार वेद भी सच्चिदानन्द रूप ही है, जो कि ब्रह्म का स्वरूप है । अतः वेद को यदि सृष्टि का मूल माना गया है, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं । शतपथ ब्राह्मण कहता है—सत्यं ब्रह्म । तैत्तिरीय आरण्यक कहता है—विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् तथा आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । यह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही समस्त सृष्टि का मूल है—ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ।

वेद-तत्त्व के प्रतिपादक ग्रन्थों को भी वेद कहते हैं इसलिए इन दोनों के बीच भेद करने के लिए हम प्रतिपाद्य वेद को तत्त्व-वेद तथा प्रतिपादक वेद को शब्द-वेद कहकर दोनों के बीच का भेद अभिव्यक्त कर सकते हैं ।

त्रयी की सर्वव्यापकता

वेद से सृष्टि उत्पन्न ही नहीं हुई, अपितु वेद समस्त पदार्थों में व्याप्त भी है । इस बात को समझने के लिए पदार्थ का स्वरूप जानना होगा । आपाततः पदार्थ पिण्ड प्रतीत होता है, किन्तु कोई भी पिण्ड निष्क्रिय नहीं है । उसमें निरन्तर क्रिया होती रहती है । इस क्रिया के अतिरिक्त पदार्थ की दृश्यमत्ता का एक क्षेत्र है, जहाँ तक पदार्थ दिखाई देता है । एक सीमा के बाद पदार्थ का दिखाई देना बन्द हो जाता है । वह सीमा ही उस पदार्थ का महिमामण्डल कहलाता है ।

(१) पिण्ड का निर्माण अग्नि के रूप में ऋग्वेद करता है, (२) क्रिया का सञ्चालन वायु के रूप में यजुर्वेद करता है और (३) महिमामण्डल का वितान आदित्य के रूप में सामवेद करता है । इस प्रकार ऋक्, यजुः, साम की त्रयी विद्या में सारे पदार्थ स्थित हैं—त्रय्यामेव विद्यायां सर्वाणि भूतानि (शतपथ ब्राह्मण १०.४.२.२१) शतपथ ब्राह्मण कहता है कि जो कुछ भी सत्य है वह त्रयी विद्या है—तद्यत् तत्सत्यं त्रयी सा विद्या (शतपथ ब्राह्मण ९.५.१.१८) ।

ऋक् से मूर्ति

मूर्तपिण्ड को आच्छादित करने वाला जो उसका आकार है, वह आच्छादन के कारण छन्द कहलाता है । क्योंकि मूर्ति का निर्माण ऋग्वेद करता है, इसीलिए ऋग्वेद को छन्दोवेद भी कहते हैं । यह पिण्ड की गति रूप यजुः तथा विकास रूप साम का आधार है । अतः वह उक्थ भी कहलाता है ।

यजुः से क्रिया

पदार्थ का सार उसमें होने वाली क्रिया ही है। आधुनिक विज्ञान भी इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि पदार्थ वस्तुतः क्रिया-प्रतिक्रिया की समष्टि है। पदार्थ में होने वाली यह क्रिया ही पदार्थ का सार है, उसका रस है और यह क्रिया यजुर्वेद के कारण है—*सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्*। यजुर्वेद को रसवेद कहा गया है क्योंकि यह क्रिया ही वस्तु का रस अथवा सार है।

साम से तेज

जो हमें दिखायी देता है, वह पदार्थ का पिण्ड नहीं, अपितु पिण्ड से बाहर की तरफ फैलने वाला महिमामण्डल है, जो पदार्थ की प्राणाग्नि से बनता है। यह महिमामण्डल सामवेद है। यह पदार्थ का ही विकास या वितान है इसीलिए सामवेद को वितानवेद भी कहते हैं। पिण्ड रूप ऋक् यदि प्रस्ताव है तो महिमामण्डल रूप साम निधन है। साम के दो भाग हैं—छन्दार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पिण्ड में रहने वाला अग्नि छन्दार्चिक है, महिमामण्डल में रहने वाला अग्नि उत्तरार्चिक है। साम का सामत्व यह है कि साम द्वारा पदार्थ का ग्रहण होता है—*साम्ना समानयन् तत् साम्नाः सामत्वम् (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.८.७)* साम का आधार ऋक् है—*ऋचि साम गीयते (शतपथ ब्राह्मण ८.१.३.३)* अर्थात् पिण्ड ही उसके महिमामण्डल का आधार है। समस्त तेज सामरूप है—*सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्*।

ऋक् और साम में यजुः

अभी हमने कहा है कि यजुर्वेद रसवेद है। पिण्ड पदार्थ की एक सीमा है, महिमामण्डल दूसरी सीमा है। इस सीमा के भीतर गतिरूप यजुः के प्रस्तावित रहने के कारण यजुर्वेद रसवेद कहलाता है। इसलिए गतिशील यजुः को ऋक् और साम के बीच प्रतिष्ठित बताया गया है—

अयं वाक् यजुर्योऽयं पवते।

तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम् ॥ (शतपथ ब्राह्मण १०.३.५.१)

क्योंकि पिण्ड और मण्डल दोनों सीमा से आच्छादित हैं, अतः वे दोनों छन्दोबद्ध हैं। इसलिये ऋक् तथा साम पद्यात्मक हैं। यजुर्वेद छन्द की सीमा से मुक्त है। अतः वह गद्यात्मक है। पिण्ड तथा मण्डल दोनों स्थिर हैं। ये दोनों सीमा में बँधे हैं। इन दोनों के बीच यजुः गतिमान् है। अमृत ऋक्-साम से घिरा होने के कारण यजुः भी दो अमृतों के बीच मरता नहीं—*तस्मान्मृत्युर्न म्रियते अमृते ह्यन्तः (शतपथ ब्राह्मण १०.५.१.४)*।

पदार्थ की ध्रुवता में परिवर्तनशीलता

अग्नि, वायु, आदित्य अथवा ऋक्, यजुः, साम की समस्त सृष्टि जो आदित्य से नीचे-नीचे है, परिवर्तनशील है—*तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात् सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्। (शतपथ ब्राह्मण १०.५.१.४)*। पदार्थ की यह परिवर्तनशीलता यजुः की गति के कारण ही है। फिर भी पदार्थ में “स एवायम्” यह प्रत्यभिज्ञा ऋक् साम के कारण होती रहती है क्योंकि वे दोनों बदलते हैं कोई

ऋक्-साम, यजुः के बिना नहीं है और कोई यजुः ऋक् साम के बिना नहीं है। यही पदार्थ की स्थिरता रूपी अमृतत्व में परिवर्तनशीलता रूपी मृत्यु का तथा परिवर्तनशीलता रूपी मृत्यु में स्थिरता रूपी अमृतत्व का सन्निवेश है, जो पदार्थ के पूर्ण स्वरूप को प्रकट करता है—*अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम् (शतपथ ब्राह्मण १०, ५, २, ४)*। इसी को अमृत और मृत्यु का एक दूसरे में सन्निवेश करना कहा गया है—*निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च*।

प्रजापति से तत्त्ववेद की उत्पत्ति

वेद की उत्पत्ति प्रजापति से बतायी गयी है। अग्नि, वायु, आदित्य ही संवत्सर प्रजापति हैं। अग्नि पिण्डभाव में आकर छन्द रूप में परिवर्तित होकर ऋग्वेद बनता है। वायु गतिभाव में आकर रस रूप में यजुर्वेद बन जाता है। आदित्य तेजोभाव में आकर वितान रूप में परिणत होकर सामवेद बन जाता है। इस प्रकार प्रजापति से वेद उत्पन्न होते हैं।

यह त्रयी पदार्थ के स्वरूप का निर्माण करने के कारण स्वयं भी प्रजापति बनी हुई है। प्रजापति एक सर्वव्यापक तत्त्व है—*यद् वै किञ्च प्राणिः सः प्रजापतिः*। इसलिए प्रजापतित्व विश्व के सभी पर्वों में भी है।

स्वयम्भूमण्डल में सत्यप्रजापति के रूप में

स्वयम्भू मण्डल में यह त्रयी प्रजापति नाभि, महिमा और मूर्ति के रूप में प्रकट हुई है। नाभि, मन है, महिमा प्राण है, मूर्ति वाक् है। जिस पदार्थ का भी अस्तित्व हम देखते हैं, उसके अस्तित्व का कारण स्वयम्भू की यह त्रयी है, जो प्रत्येक पिण्ड में वाक् के द्वारा उसके शरीर को बनाती है, प्राण के द्वारा उसमें गति देती है और मन के द्वारा ज्ञान देती है। यह मन, प्राण, वाक् ही सब पदार्थों की आत्मा है—*स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः*। इन तीनों में शरीर का निर्माण करने वाली वाक् ऋक् है, क्रिया करने वाला प्राण यजुः है और ज्ञान कराने वाला मन साम है। मन केन्द्र में है, प्राण महिमामण्डल में है और वाक् पिण्ड में। केन्द्र नभ्य प्रजापति, मूर्ति उद्गीथ प्रजापति और महिमामण्डल सर्वप्रजापति है। वह त्रयी जड़ चेतन सब में है। यही सत्यप्रजापति है। इस सत्यप्रजापति के भी तीन रूप हैं। विश्वातीत रूप में वह मनः-प्रधान है, विश्वात्मा रूप में वह प्राण प्रधान है तथा विश्व के रूप में वह वाक्-प्रधान है। प्रजापति की नाभि अणोरणीयान् है। मूर्ति, मध्यभाव है और महिमा महतोमहीयान् है। मन प्रजापति का केन्द्र है। यही नाभि है। यही अणोरणीयान् है। प्राण भाग महतोमहीयान् है, क्योंकि यह महिमामण्डल है, जिसके उदर में सब कुछ समाया है। वाग्भाग पिण्ड रूप है, यही मध्यस्थ है। उसे उद्गीथ प्रजापति कहते हैं। नाभि या मन ज्ञाता है, मूर्ति या वाक् ज्ञेय है, महिमा या प्राण ज्ञान है। इनमें केवल मूर्ति ही व्याकृत है। मन और प्राण दोनों अव्याकृत हैं। मूर्ति को उद्गीथप्रजापति कहते हैं। यह उद्गीथप्रजापति ही वेदवाङ्मय है। प्रत्येक पदार्थ के तीन भाग हैं—प्रज्ञा ज्ञाता है, प्राण ज्ञान है और भूत ज्ञेय है। प्रत्येक मनुष्य में भी तीनों भाग रहते हैं। जहां इन्द्रियां नहीं हैं, उसे ही हम जड़ कहते हैं। आत्मा ज्ञाता है। ज्ञान उस आत्मा की रश्मियां हैं, ज्ञेय भाग प्रवर्ग्य है। आत्मा चित्त है, रश्मियां चेतना हैं, प्रवर्ग्य अचित्त है।

परमेष्ठीमण्डल में यज्ञ-प्रजापति के रूप में त्रयी

इस त्रयी में ही रसाग्नि यजुः अन्न का आहरण करता है, जिसके कारण पदार्थ में परिवर्तन होता है अन्नाद में अन्न का आहरण ही यज्ञ कहलाता है। यह पदार्थ के बनाये रखने में भी सहायक है। इसलिए पदार्थ के स्वरूप का निर्माण करने वाले स्वयम्भूमण्डल के सत्यप्रजापति की त्रयी के समान यह परमेष्ठीमण्डल में यज्ञप्रजापति की दूसरी त्रयी है। इस त्रयी में मन, प्राण तथा वाक् परस्पर मिल जाते हैं। उनका यह सङ्गतिकरण ही यज्ञ है जिसके कारण परमेष्ठीमण्डल में उन्हें यज्ञप्रजापति कहा जाता है।

विराट्-प्रजापति : सूर्यमण्डल की त्रयी

एक तीसरी त्रयी सूर्य-मण्डल की है, जो संवत्सर को जन्म देकर प्रजा की सृष्टि करने के कारण विराट् प्रजापति कहलाता है। यह सूर्य की त्रयी विराट् प्रजापति है, जो पुरुषसूक्त के सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपाद् वाले उस विराट् को जन्म देती है, जो अग्नि-वायु-आदित्य के रूप में वैश्वानर नाम से मैथुनी सृष्टि का कारण है। इसीलिए सूर्य को चर-अचर सबकी आत्मा बताया गया है—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।

चतुर्विध प्रजापति की चतुर्विध माया

इन सत्य, यज्ञ तथा विराट् प्रजापति के अतिरिक्त एक अमृत प्रजापति है। सत्य प्रजापति एक पञ्चपर्वा विश्व का स्वामी है। ऐसे-ऐसे अनेक विश्वों का स्वामी अमृत प्रजापति कहलाता है। अमृत प्रजापति की माया महामाया है, सत्य प्रजापति की माया योगमाया है, यज्ञ प्रजापति की माया योगनिद्रा है तथा विराट् प्रजापति की माया गुणमाया है।

स्वयम्भू, परमेष्ठी और सूर्य में तो त्रयी व्याप्त है ही, पृथ्वी और चन्द्र पर भी त्रयी का साम्राज्य है। इन पाँच पिण्डों में स्वयंभू, सूर्य और पृथ्वी अग्निप्रधान है, इनमें ऋक्, यजुः, साम ये तीन अग्नि वेद हैं तथा परमेष्ठी और चन्द्र सोमप्रधान है। उनमें अथर्व नाम का चौथा वेद सोमवेद है।

प्रत्येक अणु में त्रयी

क्रमशः त्रयी का विवेचन करते हुए त्रयी का यज्ञ से भी सम्बन्ध जान लेना चाहिये। यज्ञ से अपूर्व की उत्पत्ति होती है। इसलिए जहाँ प्रजा है, वहाँ प्रजापति होना ही चाहिये। केन्द्र में स्थित वागग्नि ही यह प्रजापति है। यही जब पिण्ड और महिमामण्डल में वितत होता है, तो देवता कहलाता है। ये देवता तीन भागों में बँटे हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। ये तीनों ऋक्, यजुः साम से जुड़े हैं; होता, अध्वर्यु, उद्गाता से जुड़े हैं और गार्हपत्य, धिष्य तथा आहवनीय अग्नि से जुड़े हैं—ऋग्वेदाद्गार्हपत्यो यजुर्वेदाद्दक्षिणाग्निः सामवेदादाहवनीयः (षड्विंश ब्राह्मण ५/१/२)। इस प्रकार प्रजापति ही यज्ञ के रूप में वितत हो रहे हैं; वे ही तीन अग्नि हैं, वे ही तीन पुरोहित हैं।

प्रजापति, वेद और यज्ञ के साथ चौथी आवश्यक वस्तु वेदी है, जिस पर यज्ञ होता है। जिस

यज्ञ की हम चर्चा कर रहे हैं वह अणु-अणु में चल रहा है। इसलिए सारी पृथिवी ही वेदी है। एक-एक पिण्ड में जो यज्ञ चल रहा है उसे विश्वदानि यज्ञ कहते हैं। इस विश्वदानि यज्ञ की ही वेदि पूरी पृथ्वी है—(तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.४.७.१२)।

विराट् यज्ञ पर प्रतिष्ठित है तथा यज्ञ सत्य पर प्रतिष्ठित है। शतपथब्राह्मण में त्रयी की इस सर्व-व्यापकता का बहुत विस्तृत वर्णन है।

स्वयम्भू में त्रयी

यदि वेद ब्रह्म का पर्याय है और सृष्टि का मूल है तो उसे सर्वव्यापक होना चाहिये। सृष्टि की प्रक्रिया में तीन कार्य महत्त्वपूर्ण हैं—काम, तप और श्रम। त्रयी के साथ इन तीनों का पाँच बार मिश्रण होने पर सृष्टि के पाँचों पर्वों पर पाँच बार त्रयी का जन्म हुआ। पृथक्-पृथक् पर्व की पृथक्-पृथक् त्रयी है। पाँचों पर्वों में क्रमशः सर्वप्रथम स्वयम्भू की त्रयी को लें। शतपथ ब्राह्मण कहता है—

प्रजापति पुरुष ने कामना की, मैं अनेक हो जाऊँ। इसलिए मुझे सन्तति उत्पन्न करनी चाहिये। उसने श्रम किया, तप किया तथा इस श्रम और तप से सर्वप्रथम ब्रह्म का सर्जन किया अर्थात् त्रयी विद्या को जन्म दिया। वही उसके लिए प्रतिष्ठा बन गई। इसीलिए कहा जाता है कि ब्रह्म सबकी प्रतिष्ठा है। जो स्वाध्याय करता है। वह प्रतिष्ठित होता है। ब्रह्म ही प्रतिष्ठा है। उस पर प्रतिष्ठित होकर, उसने फिर तप किया। मूल पाठ इस प्रकार है—*सोऽयं पुरुषः प्रजापतिरकामयत । भूयान्त्स्यां प्रजायेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत स श्रान्ततेपानो ब्रह्मैव प्रथममसृजत त्रयीमेव विद्यां, सैवास्मै प्रतिष्ठाभवत्तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रतिष्ठेति तस्मादनूच्य प्रतिष्ठिति प्रतिष्ठा ह्येषा यद् ब्रह्म तस्यां प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत ।* (शतपथ ब्राह्मण ६/१/१/८)

प्रथमत्रयी : ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति

इसके अनन्तर त्रयीविद्या पर प्रतिष्ठित होकर तप के द्वारा प्रजापति ने आपः की सृष्टि की जिस आपः में वह त्रयीविद्या सहित प्रविष्ट हो गया। आपः को वारि भी कहा जाता है क्योंकि उसने सबका संवरण कर रखा है। उसे आपः इसलिए कहलाता है कि वह सर्वत्र व्याप्त है। आपः में त्रयीविद्या सहित प्रजापति के प्रवेश का यह फल हुआ कि आपः जो ऋत रूप था, वह आण्ड रूप अर्थात् सत्यरूप में परिणत हो गया। ब्रह्म प्रवेश के कारण ही वह ब्रह्माण्ड कहलाया। इस आपोमय आण्ड में प्रतिष्ठित प्रजापति ने फिर त्रयी को जन्म दिया। अब तक जिस त्रयी को जन्म दिया था, वह स्वयंभू पर्व की त्रयी सबकी प्रतिष्ठा थी। अब जिस त्रयी का जन्म हुआ, वह प्रथमज त्रयी कहलायी। इस त्रयी का सम्बन्ध सूर्य से है। मूल पाठ इस प्रकार है—

सोऽकामयत आभ्योऽदभ्योऽधि प्रजायेयेति सोऽनया त्रय्या विद्याया सहापः प्राविशत्तत आण्डं समवर्तत तदभ्यमृशदस्त्वित्यस्तु भूयोऽस्त्वित्येव तद्ब्रवीत्ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रयेव विद्या तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य सर्वस्य प्रथमजम् । (शतपथ ब्राह्मण ६.१.१.१०)

इसी प्रथमज वेद की महिमा बताते हुए शतपथ ब्राह्मण कहता है कि वह प्रथमज वेद बहुत बड़ा यक्ष है। यह सत्य ब्रह्म है। जो इस सत्यब्रह्म को जान लेता है, वह तीनों लोकों को जीत लेता है—

सत्यमेव स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति
जयतीमांल्लोकाञ्जितः । (शतपथ ब्राह्मण १४.८.८.१)

तीन अग्निवेद

शतपथ ब्राह्मण में ही अन्यत्र अग्नि, वायु और सूर्य से क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की उत्पत्ति का वर्णन है तथा इसी त्रयी विद्या से यज्ञ सम्पन्न करने का उल्लेख है। ये 'वेद' अग्नि के तीन रूप अग्नि, वायु और आदित्य से उत्पन्न हुए तथा यज्ञ में उपयोगी हैं। इसलिए ये अग्निमय पार्थिव यज्ञमात्रिक वेद हैं। इनका वर्णन इस प्रकार है—

स इमानि त्रीणि ज्योतीष्यभितताप । तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा
अजायन्तानेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः ।

(शतपथ ब्राह्मण ११.५.८.३)

तदाहुः यदृचा होत्रं क्रियते यजुषाध्वर्यवं साम्नोद्गीथोऽथ
केन ब्रह्मत्वमित्यनया त्रय्या विद्ययेति ह ब्रूयात् ।

(शतपथ ब्राह्मण ११.५.८.७)

ऊपर जिन तीन वेदों का हमने उल्लेख किया, उनमें प्रथम स्वयंभू वेद ब्रह्माग्नि रूप है, जिसे शास्त्र यस्य निःश्वसितं वेदाः कहते हैं। सूर्य के वेद देवाग्नि वेद है जिसे सूर्य के सम्बन्ध के कारण गायत्री मात्रिक वेद भी कहा जाता है। तीसरा पार्थिव वेद भूताग्नि से जुड़ा है जिसे यज्ञमात्रिकवेद भी कहा जाता है। शेष दो पर्व बचे—परमेष्ठी और चन्द्रमा। इन दोनों में सोम तत्त्व मुख्य है, अग्नि तत्त्व नहीं। जब हम त्रयी की बात करते हैं तो सोमवेद अथर्ववेद को सोम के अन्न होने के कारण उसे अन्नाद अग्नि में ही अन्तर्भूत मान लेते हैं। इससे पूर्व कि हम सोमवेद अथवा अथर्ववेद का उल्लेख करें, उचित होगा कि तीन अग्नि वेदों का सृष्टि में क्या योगदान है—इसकी चर्चा थोड़े विस्तार से कर लें।

नामरूपकर्मात्मक जगत्

स्वयंभू वेद प्रतिष्ठा वेद है, इसलिए संसार के प्रत्येक पदार्थ की प्रतिष्ठा स्वयम्भू वेद के कारण है। मन, प्राण और वाक् ही पदार्थ की प्रतिष्ठा है यह प्रतिष्ठा या अस्तिभाव स्वयम्भू वेदत्रयी का फल है। ये मन, प्राण, वाक्, अमृत भाग हैं। उनका मर्त्य भाग नाम, रूप और कर्म है—त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म । (शतपथ ब्राह्मण १४.४.४.१) पदार्थ का नामरूप सौर वेदत्रयी का फल है। सूर्य इन्द्र के रूप में पदार्थों में शुक्ल, कृष्ण, पीत आदि वर्ण उत्पन्न करता है, त्वष्टा के रूप में गोल, त्रिकोण, चौकोर इत्यादि आकार बनाता है और ऐन्द्री वाक् के रूप में नाम का निर्माण करता है। ऐन्द्री वाक् वाक् का वह स्वरूप है जो बुद्धिपूर्वक घट पट आदि सार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त

होता है। यही व्याकृत वाक् कहलाती है। इसी अर्थ में इन्द्र को व्याकरण का प्रथम कर्ता माना जाता है। इस व्याकृत वाक् के कारण ही नाम बनता है, पशुओं की अव्याकृत निरर्थक वाक् पदार्थों का नामकरण नहीं कर सकती। इस प्रकार नाम और रूप दोनों का निर्माण सौर की वेदत्रयी कर रही है।

पदार्थ का नामरूप के बाद तीसरा अंश कर्म है। कर्म का अर्थ है—आदान-प्रदान। अग्नि और सोम का सम्बन्ध ही आदान-प्रदान कर्म है। यही यज्ञ है, इसलिए समस्त कर्म का आधार पार्थिव वेद है, जिसे हमने ऊपर यज्ञवेद भी कहा है—*एतया हि त्रय्या विद्यया यज्ञं तन्वते*। (शतपथ ब्राह्मण ७.५.३.२)

इस प्रकार पदार्थ का मन, प्राण, वाक् रूप प्रतिष्ठा का भाग स्वयम्भू त्रयी से, नाम तथा रूप सौर त्रयी से और कर्म पार्थिव त्रयी से बन रहा है। इस वैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखकर ब्राह्मणग्रन्थ ने यह घोषणा की थी कि सारे भूत त्रयी विद्या में है—*त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि*। (शतपथ ब्राह्मण १०.४.२.२.२)

त्रयमें प्रतिष्ठा ब्रह्म है, कर्म अन्न है, क्योंकि (i) प्रतिष्ठा (ii) नाम और रूप तथा (iii) कर्म—ये तीनों ही त्रयी पर टिके हैं इसलिए मुण्डकोपनिषद् ने घोषणा की कि जिस प्रजापति का तप ज्ञान रूप है, उसी से ब्रह्म अर्थात् प्रतिष्ठा, नाम, रूप और अन्न अर्थात् कर्म उत्पन्न होता है—

यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः।

तस्मादेतद् ब्रह्म, नाम रूपमन्नं च जायते ॥

(मुण्डकोपनिषत् १.१)

सोमवेद अथर्ववेद

त्रयी का विवरण देने के बाद अब चौथे वेद सोमवेद (अथर्ववेद) का भी थोड़ा सा विवरण देना उचित होगा—तत्त्ववेद के स्वरूप को न जानने वाले लोगों ने बारम्बार त्रयी शब्द का प्रयोग देखकर एक कल्पना की कि ऋक्, यजुः और साम प्राचीन वेद हैं तथा अथर्ववेद का समावेश बहुत बाद में हुआ। वेद नामक ग्रन्थों के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार करना यहाँ नितान्त अप्रासङ्गिक होगा। यहाँ हम तत्त्व-वेद की चर्चा कर रहे हैं। हमें अतः केवल इतना ही कहना प्रासङ्गिक है कि सोमवेद का सम्बन्ध परमेष्ठीलोक से है। परमेष्ठीलोक स्वयम्भूलोक के अनन्तर है। अतः अथर्ववेद, स्वायम्भुवीत्रयी का परवर्ती किन्तु सौरत्रयी तथा पार्थिवत्रयी का पूर्ववर्ती है।

अथर्वाङ्गिरसवेद में ही त्रयी प्रतिष्ठित है

ऊपर हमने प्रजापति के आपः में प्रविष्ट होकर उसे आपण्डरूप प्रदान करने का उल्लेख किया है। गोपथ ब्राह्मण का कहना है कि यह आपः दो तत्त्वों का समवाय है—भृगु और अङ्गिरा। इन दोनों तत्त्वों के बीच में भी एक त्रयी स्थित है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।

अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥

गोपथ ब्राह्मण ने इस वेद को भूयिष्ठब्रह्म कहा है—एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः (गोपथ ब्राह्मण १.३.४) भृगु और अङ्गिरा तेज और स्नेह हैं। भृगु स्नेह है और अङ्गिरा तेज। भृगु-अङ्गिरा कहें या स्नेह तेज कहें या शुष्क आर्द्र कहें अथवा सोम अग्नि कहें, बात एक ही है—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति आर्द्रञ्चैव शुष्कञ्च यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदाद्रं तत्सौम्यम् । (शतपथ ब्राह्मण १.६.३.२३)

इन्हें सूर्य, चन्द्र, अहोरात्र अथवा शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष भी कहते हैं।

सूर्य एवाग्नेयः चन्द्रमाः सौम्योऽहरेवाग्नेयं रात्रिः सौम्या

य एवापूर्वतेऽर्द्धमासः स आग्नेयो योऽपक्षीयते स सौम्यः । (शतपथ ब्राह्मण, १/६/३/२४)

इस भृगु अङ्गिरा में स्थित वेद को भृग्वङ्गिरो वेद कहना उचित होगा। चन्द्रमा भी सोमप्रधान है। अतः सोमवेद चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है। इसीलिये अथर्ववेद को चन्द्रमा का वेद बताया गया है—

कालेऽयमथर्वा देवः अथर्वणा चन्द्रमा दैवतम्

तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपः स्थानम् । (गोपथ ब्राह्मण, १.२४)

इस प्रकार पाँचों ही पवों में त्रयी विद्यमान है और सबका अलग-अलग रूप है।

तत्त्ववेद के आलोक में शब्दवेद के अर्थ

हम ग्रन्थ रूप में उपलब्ध चार वेदों से सुपरिचित है। प्रश्न होता है कि तत्त्ववेद के उपर्युक्त विवरण से शब्दवेद का क्या सम्बन्ध है। वस्तुस्थिति यह है कि तत्त्ववेद के स्वरूप को समझने के बाद वैदिक साहित्य को पढ़ने की हमारी दृष्टि बदल जाती है। परिणाम यह होता है कि वेद-मन्त्रों के अनेक भाग नवीन अर्थ देने लगते हैं। उदाहरणतः ऋग्वेद का यह मन्त्र देखें—

यमग्निं मेध्यातिथिः कण्व ईध ऋतादधि ।

तस्य प्रेषी दीदियुस्तामिमा ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि ॥ (ऋग्वेद १.३६.११)

मन्त्र का चौथा पद कहता है कि ऋचाएं उस अग्नि को प्रवृद्ध करती हैं। वेदतत्त्व को जाने बिना सामान्यतः इस पङ्क्ति का यह अर्थ लगेगा कि जो ऋचाएं यज्ञ में ऋत्विज बोल रहे हैं, उन ऋचाओं से अग्नि प्रवृद्ध हो रही है। सायणाचार्य ने यही अर्थ किया भी है—तमग्निमिमा अस्माभिः प्रयुज्यमाना ऋचो वर्धयन्तीति शेषः। यदि हम ऋक्तत्त्व की ओर ध्यान दें तो इस पङ्क्ति का एक वैज्ञानिक अर्थ होता है कि ऋक् ही अग्नि का उक्थ है तथा ऋक् तत्त्व से ही अग्नि प्रवृद्ध होता है।

पुरुषसूक्त का यह मन्त्र भी वेद तत्त्व के आलोक में नया ही अर्थ देगा—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ (ऋग्वेद १०/१०/१)

स्पष्ट है कि किसी यज्ञ से कोई ग्रन्थ तो उत्पन्न हो नहीं सकते। पुरुष सूक्त में विराट् पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन है। यह विराट् पुरुष ही प्रजा सृष्टि का प्रवर्तन करता है। इसका सम्बन्ध

सौरमण्डल से है। अतः सौरमण्डल में चलने वाले यज्ञ से जिस त्रयी की उत्पत्ति होती है, यहाँ उसी का उल्लेख है।

ऋग्वेद के समान ही यजुर्वेद के ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनका अर्थ तत्त्ववेद के आलोक में ही ठीक समझा जा सकता है। उदाहरणतः एक मन्त्र ने—*ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये, साम प्राणः प्रपद्ये*। (यजुर्वेद ३६.१) मन्त्र का शब्दार्थ स्पष्ट है—मैं ऋग्रूप वाक् का आश्रय लेता हूँ, यजुरूप मन की शरण में जाता हूँ, प्राणरूप साम का सहारा लेता हूँ। दूसरी ओर हम यह देख चुके हैं कि शतपथ ब्राह्मण वाक्-प्राण-मन को आत्मा कह चुका है। त्रयी से विश्व की उत्पत्ति होती है—यह पहले कहा जा चुका है। आत्मा से भी सृष्टि की उत्पत्ति उपनिषदों में कही गई है—*आत्मनः सकाशादाकाश सम्भूतः इत्यादि*। अतः आत्मा और त्रयी के बीच तादात्म्य सम्बन्ध होना चाहिए। वही तादात्म्य सम्बन्ध इस मन्त्र में बताया गया है। इस मन्त्र का मर्म तभी समझा जा सकता है जब हम तत्त्ववेद के स्वरूप से परिचित हों। यदि ऋक्, यजु, साम को कोई तत्त्व न मानें और मन्त्रों का समूह मानें तो इस बात की कोई सङ्गति ही नहीं बनेगी कि ऋक् को तो हम वाणी कहें और यजुः और साम को वाणी न कह कर मन और प्राण कहें। ग्रन्थ रूप में तो ऋक्, यजु, साम तीनों ही वाणी हैं।

यजुर्वेद का ही एक दूसरा मन्त्र लें—*प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वस्तस्य ऋक्सामान्यप्सरस एष्टयो नाम*। (यजुर्वेद १८.४३) मन्त्र का शब्दार्थ है—विश्वकर्मा प्रजापति है, मन गन्धर्व है। ऋक् और साम इस गन्धर्व को बल देने वाली एष्टयः नाम की अप्सरा है। यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र को ध्यान में रखें, तो यहाँ ऋक् और साम का अर्थ वाक् और प्राण लेने पर यह होगा कि वाक् और प्राण मन रूपी गन्धर्व की इच्छाएं पूरी करते हैं। यदि वाक् और प्राण सहयोग न करे तो मन की इच्छा पूरी नहीं हो सकती। यदि यहाँ ऋक् और साम का अर्थ ग्रन्थविशेष लें तो यह मन्त्र बहुत ही गम्भीर सा प्रतीत होगा।

ब्राह्मणों में तत्त्वों की व्याख्या का आधार तत्त्ववेद

अथर्ववेद का एक मन्त्र है—

सामाहमस्मि ऋक् त्वं, द्यौरहं पृथिवी त्वम्।

नाविह सम्भवाव प्रजामाजनयावहै ॥ (अथर्ववेद १४.२.७१)

यहां विवाह के समय वर वधू को कह रहा है कि मैं साम हूँ तुम ऋक् हो, मैं द्यौ हूँ, तुम पृथ्वी हो। यदि यहां साम और ऋक् का अर्थ तत्त्ववेद न लिया जाय तो यह मन्त्र भी अस्पष्ट ही रह जायेगा। मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है—पुरुष परिवार का महिमामण्डल बनता है, स्त्री आधार बनती है। दोनों का समन्वय ही दाम्पत्य की परिपूर्णता है। ऐतरेय ब्राह्मण में इस अंश को बहुत रोचक ढंग से बताया गया है—

“सा” ऋक् का नाम है “अम्” साम का नाम है। ऋक् ने साम से कहा—आओ हम दोनों मिलकर सन्तान उत्पन्न करें। साम ने कहा—मेरी महिमा बहुत अधिक है, मैं

तुम्हारे साथ नहीं मिलूंगा। तब दो ऋक् मिलकर आर्यीं और साम से वही बात कही। साम तब भी नहीं माना। अन्त में तीन ऋचाएं मिलकर आर्यीं और उन्होंने वही बात दोहराई, तो साम ने यह माना कि तीन ऋचायें मिलकर मेरे बराबर हो गई हैं। इसलिए उसने उनसे सम्बन्ध करना स्वीकार कर लिया, क्योंकि तीन ऋचाओं से ही उद्गाता सामगान करते हैं—“ऋक् व चा इदमग्रे साम चास्ताम्। सैव नाम ऋगासीत्, अमो नाम साम। सा वा ऋक् सामोपावदन्—“मिथुनं सम्भवाव प्रजात्या” इति। नेत्यब्रवीत् साम। ज्यायान् वा अतो मम महिमा इति। ते द्वे भूत्वोपावदताम्। तेन प्रतिवचनं समवदत्। तास्तिस्रो भूत्वोपावदन्। तत्तिसृभिः सम्भवत्। यत् तिसृभिः सम्भवत्, तस्मात् तिसृभिः स्तुवन्ति, तिसृभिरुद्गायन्ति। तिसृभिर्हि साम सम्मितम्। (ऐतरेय ब्राह्मण १२/१२/२३)

यह सन्दर्भ इस बात का सूचक है कि ब्राह्मण ग्रन्थ मन्त्र-भाग की वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे थे। ऋक् व्यास है साम परिधि। परिधि व्यास की लगभग तिगुनी होती है इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थ कहता है कि एक साम तीन ऋचाओं के बराबर है। परिधि का निर्माण व्यास से ही होता है। अतः साम में ऋक् भी शामिल ही है।

वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थ ऋक् और यजुः की तात्त्विक व्याख्या से भरे हुए ही हैं। उपनिषद् भी तत्त्ववेद की विस्तृत चर्चा करते हैं। उदाहरणतः ऊपर दिए गए यजुर्वेद के मन्त्र—“ऋचं वाचं प्रपद्ये, मनो यजुः प्रपद्ये, साम प्राणं प्रपद्ये” की व्याख्या करते हुए छान्दोग्योपनिषद् कहता है कि वाक् ही ऋक् है। प्राण साम है। ऋक् पर साम आधारित है। वाक् का नाम “सा” है। प्राण का नाम “अम्” है—

अधाध्यात्म-वागेव ऋक्, प्राणः सामः। तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम

तस्माद्च्यध्यूढं साम गीयते वागेव “सा” प्राणोऽमः तत् नाम। (छान्दोग्योपनिषद्, १.७.१)

पुराणों में तत्त्ववेद

उपनिषद् ही नहीं, पुराण भी त्रयी विद्या के सन्दर्भ में ब्राह्मणों की अवधारणा को ज्यों का त्यों दोहरा रहे हैं। उदाहरणतः तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है—

ऋग्भिः पूर्वाह्नि दिवि देव इयते, यजुर्वेदे तिष्ठतिः मध्येऽह्नि।

सामवेदेनास्तमये महीयते, वेदैरशेषैस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥ (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२)

इसी बात को मार्कण्डेय पुराण इस प्रकार कहता है—

ऋचस्तपन्ति पूर्वाह्नि मध्याह्ने च यजूंषि वै।

सामानि चापराह्ने तु तपन्ति मुनिसत्तम ॥

(मार्कण्डेय पुराण)

दोनों सन्दर्भों का एक ही अर्थ है पूर्वाह्न में ऋक् है, मध्याह्न में यजुः है तथा अपराह्न में साम है। इतना ही नहीं, मार्कण्डेय पुराण त्रयी तत्त्व को हमारे लिए अधिक परिचित भाषा में खोलते हुए

कहता है कि ऋक् रजोगुण है, जो जन्म देता है, यजुः सत्त्वगुण है, जो स्थिति बनता है और साम तमोगुण है, जो प्रलय करता है। इसलिए ऋक् ब्रह्मा है। यजुः विष्णु है। साम रुद्र है—

ऋचो रजोगुणः सत्त्वं यजुषा च गुणो मुने ।

तमोगुणानि सामानि तमःसत्त्वमथर्व्वसु ॥ (मार्कण्डेय पुराण)

सृष्टो ऋद्धमयो ब्रह्मा, स्थितौ विष्णुर्यजुर्मयः ।

रुद्रः साममयोऽन्ते च तस्मात्तस्याशुचिर्ध्वनिः ॥ (मार्कण्डेय पुराण)

स्पष्ट है कि मन्त्र भाग में प्रतिपादित विचारधारा ब्राह्मण, उपनिषद् और पुराणों तक अविच्छिन्न चली आई है, इसीलिए वेदव्यास ने यह घोषणा की कि वेद के अर्थ को इतिहास और पुराण की सहायता से विशद कर लेना चाहिए। अल्पश्रुत व्यक्ति से वेद डरता है क्योंकि वह सोचता है कि यह मुझे चोट पहुँचायेगा—इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद्भेदो मामयं प्रहरिष्यति । (महाभारत) ।

दिक्, देश, काल में त्रयी

अब तक हम वेदों को ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में; मन, प्राण और वाक् के रूप में; सत्, चित् और आनन्द के रूप में; आरम्भ, मध्य और अवसान के रूप में; व्यास, केन्द्र और परिधि के रूप में देख चुके हैं। अब विषयप्रवेश में उद्धृत तैत्तिरीय ब्राह्मण के चार मन्त्रों के आधार पर त्रयी का दिग्-देश और काल में भी विस्तार देख सकते हैं।

दिग् के क्षेत्र में पूर्व दिशा को ऋक् की दिशा कहा गया है। जिस प्रकार ऋक् पदार्थ का उक्थ है, उसी प्रकार पूर्व दिशा दिशाओं के मूल में है। प्राची में सूर्य का उदय होता है, इसलिए इसे ऐन्द्री दिशा कहा गया है। यजुर्वेद का सम्बन्ध दक्षिण दिशा से है। दक्षिण दिशा अग्नि की दिशा है। दक्षिणीगोलार्ध में इसीलिए अधिक गर्मी रहती है। यजुर्वेद भी अग्नि के रूप में ही (पदार्थ के सार रूप में) रसवेद बनता है। उत्तर दिशा शीतल है, सोममयी है उसका सम्बन्ध सामवेद से है। पश्चिम दिशा जल प्रधान वारुणी दिशा है सहज ही उसका सम्बन्ध भोग प्रधान अथर्ववेद से जुड़ जाता है।

दिग् भातिसिद्ध है, किन्तु देश सत्तासिद्ध है। सत्तासिद्ध पदार्थ ही पिण्ड कहलाता है। पिण्ड का उक्थ ऋग्वेद है, जिससे मूर्त पदार्थ उत्पन्न होता है। उस पदार्थ में होने वाली गति यजुः से बनती है, जो वायु गति स्थिति पर टिकी हुई होने से केवल यत् न होकर यत् + जू है, अर्थात् गति और स्थिति दोनों उसमें हैं। पदार्थ का महिमामण्डल सोमवेद है क्योंकि वह आदित्यरूप है और तीनों की समष्टि अथर्ववेद है, क्योंकि अथर्ववेद के सोम पर ही ऋक्, यजु, साम की अग्नि टिकी हुई है।

काल में पूर्वाह्न भूतकाल का वाचक है, वह उक्थ है, प्रारम्भ बिन्दु है। मध्याह्न वर्तमान काल है। वह यजुर्वेद है। अपराह्न भविष्यत् काल है। वह सामवेद है।

वर्णों में त्रयी

इसी प्रकार समस्त दिग्, देश और काल तो त्रयी से उत्पन्न हुए ही हैं, समस्त वर्ण भी त्रयी से उत्पन्न हुए हैं। अर्थ की उपासना करने वाला वैश्य अग्नि वेद ऋग्वेद से जुड़ा है, क्योंकि अग्नि ही पदार्थ को जन्म देती है। क्रिया की उपासना करने वाला क्षत्रिय क्रिया के सूचक वायु के यजुर्वेद से जुड़ा है और ज्ञान की उपासना करने वाला ब्राह्मण ज्ञान के प्रतीक आदित्य के वेद साम-वेद से जुड़ा है।

स्पष्ट है कि इस प्रकार ब्रह्म का ही अपर पर्याय 'त्रयी' ब्रह्म ही समस्त विश्व में व्याप्त है। वेदान्त को 'सर्व ब्रह्ममयं जगत्' के स्थान पर हम "सर्व वेदमयं जगत्" भी कह सकते हैं। इसीलिए तो मनु ने कहा था कि सारे नाम और कर्म वेद से ही उत्पन्न हुए; सभी संस्थाएं वेद से बनीं—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ (मनुस्मृति, १/२१)

त्रयी का विस्तार

त्रयी की इस सर्वव्यापकता का ओर छोर पाना कठिन है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् ये अव्ययपुरुष की पाँच कलाएं हैं। उससे अक्षर पुरुष की क्रमशः पाँच कलाएं ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम और अग्नि जुड़ी हैं। इस अक्षर से ही सारा क्षर प्रपञ्च उत्पन्न होता है। इनमें आनन्द-ब्रह्मा यजुर्वेद है, विज्ञान-विष्णु और मन-इन्द्र सामवेद है; प्राण-सोम तथा वाक्-अग्नि ऋग्वेद है। क्षर प्रकृति में आकर मर्त्य ब्रह्मा प्राण; मर्त्य विष्णु आप; मर्त्य इन्द्र वाक्, मर्त्य सोम अन्न तथा मर्त्य अग्नि अन्नाद है। प्राण ऋषि है। प्राण आपः और वाक् की समष्टि पितृ प्राणगर्भित देवता है तथा अन्न-अन्नाद की समष्टि भूत है। इनमें ऋषि यजुर्वेद से, पितृगर्भित देव सामवेद से तथा भूत ऋग्वेद से जुड़ा है। ऋषि ज्ञान के अधिष्ठाता है। पितृगर्भित देव क्रिया के अधिष्ठाता है, भूत अर्थ के अधिष्ठाता है।

वेद, विद्या तथा ब्रह्म

वेद, विद्या और ब्रह्म तीनों समानार्थक हैं। विज्ञान का वृत्ति के साथ सम्बन्ध होने पर ज्ञान विषयावच्छिन्न हो जाता है। इस विषयावच्छिन्न ज्ञान को ब्रह्म कहते हैं। अर्थात् विषयाकाराकारिता अन्तःकरणवृत्ति ब्रह्म है। यही ज्ञान शब्दावच्छिन्न होने पर वेद कहलाता है अर्थात् शब्दाकाराकारिता अन्तःकरण वृत्ति वेद है। शब्द और अर्थ के द्वारा यही ज्ञान जब संस्कारावच्छिन्न होता है तो विद्या कहलाता है। इसलिए "त्रयं ब्रह्म" "त्रयोवेदाः" तथा "त्रयी विद्या" कहा जाता है। ब्रह्म अर्थ सृष्टि का मूल है, विद्या से संस्कारसृष्टि का उदय होता है। इनमें विषय संस्कार उक्त है। जब तक उक्त है, तभी तक अर्क है। अर्क अशीति है—अशीतिभिर्हि महदुक्त्यमाप्यायते। इनमें विषयावच्छिन्न ज्ञान ब्रह्म है। वही प्रतिष्ठा है। इसकी तीन कलाएं हैं—नाम, रूप, कर्म। नाम प्रपञ्च वाङ्मय ऋग्वेद है, रूप प्रपञ्च मनोमय यजुर्वेद है, कर्म प्रपञ्च प्राणमय सामवेद है।

शब्दावच्छिन्न ज्ञान वेद है। यह ज्योतिष तत्त्व है। यही साम तत्त्व है। संस्कारावच्छिन्न ज्ञान विद्या है, यह यजुर्वेद है। प्रतिष्ठा ऋग्वेद है। इस प्रकार प्रतिष्ठात्मक सत्ता में नाम, रूप और कर्म, वाक्, मन और प्राण से जुड़ कर प्रतिष्ठा, ज्योति, आत्मा क्रमशः ऋक्, साम, यजुः बनते हैं। ज्योतिर्लक्षणचिन्मयवेद में पद्यात्मक ऋग्वेद प्रतिष्ठा है, गानात्मक सामवेद ज्योति है, गद्यात्मक यजुर्वेद आत्मा है। विद्या के क्षेत्र में शब्दावच्छिन्न संस्कार ऋग्वेद है, कर्मजनित संस्कार सामवेद है, ज्ञानजनित संस्कार यजुर्वेद है।

संसार की प्रत्येक वस्तु में तीन पर्व हैं—उक्थ, पृष्ठ और ब्रह्म। उक्थ के लिये पारिभाषिक शब्द प्रस्ताव है, इसका अर्थ है—आरम्भ। आरम्भ वस्तु का हृदय है यही उक्थ है। यह अग्नि तत्त्व है इसे ऋचा कहा जाता है। वस्तु का अवसान निधन है। निधन का अभिप्राय मृत्यु नहीं है, अपितु वस्तु का अन्तिम आवरण है। इसे ही छन्द या वयोनाथ कहते हैं। यही पृष्ठ है, यही साम है। ऋक् यदि वस्तु का हृदय अथवा केन्द्र है तो साम उसकी परिधि है। इसलिए ऋक् पर ही साम प्रतिष्ठित है—*ऋच्यध्यूढं सामगीयते*। उक्थ और पृष्ठ के मध्य में ब्रह्म है, जो सत्ता सिद्ध है, जबकि उक्थ और पृष्ठ भातिसिद्ध है। यह ब्रह्म ही यजुः है। छः भाव विकारों को लें तो जन्म ऋग्वेद है, नाश सामवेद है, मध्य के चार भाव विकार यजुर्वेद हैं।

तालिका के रूप में त्रयी विद्या को उपर्युक्त विस्तार का महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार अङ्कित किया जा सकता है—

वेद	ऋक्	यजुष	साम
ब्रह्म	सत	चित्	आनन्द
पिण्ड	मर्न	गति	तेज
वर्ण	वैश्य	क्षात्रय	ब्राह्मण
काल	प्रातः	मध्याह्न	सायंकाल
शरीर	स्थूल	सूक्ष्म	कारण
आत्मा	वाक्	प्राण	मन
व्यष्टि	वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ
समष्टि	विराट्	हिरण्यगर्भ	सर्वज्ञ
पुरुष	क्षर	अक्षर	अव्यय

सूर्य में त्रयी

शतपथ ब्राह्मण में सूर्य में तीनों वेदों का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है कि जो सूर्यमण्डल है, जिसे उक्थ कहा जाता है, वह ऋक् है। जो किरणें हैं, वे साम हैं, उन्हें महाव्रत भी कहा जाता है और सूर्यमण्डल की अग्नि यजुः है। इस प्रकार सूर्य में त्रयी को साक्षात् देखा जा सकता है—

यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थं ता ऋचः । स ऋचां
लोको अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते तन्महाव्रतम् । तानि सामानि ।
स साम्नां लोको ऽथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः सोऽग्निः
तानि यजूषि । सैषा त्रय्यैव विद्या तपति । (शतपथ ब्राह्मण १.३.५.३)

उक्थ का अर्थ है जहाँ से पदार्थ का उद्भव होता है । पिण्ड ही उक्थ है, क्योंकि उसके बिना न गति है, न महिमामण्डल ।

व्रत का अर्थ है समापन । साममण्डल पर पदार्थ समाप्त हो जाता है इसलिए साम को व्रत कहा गया है ।

पञ्चपर्वों में त्रयी

वेद से सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया का थोड़ा सा सङ्केत हमने विषयप्रवेश में कामप्र यज्ञ के सन्दर्भ में दिया है—त्रयी विद्या के महत्त्व की दृष्टि से इस प्रसङ्ग को भी थोड़ा विस्तार से जान लेना उपयोगी होगा । स्वयम्भू प्रजापति में ऋषि प्राण मुख्य है । यहाँ वेद ब्रह्म निःश्वसित कहलाता है । यहाँ वेद ब्रह्माग्नि है, वह स्वयम्भू है, कहीं से उत्पन्न नहीं हुआ । जब इसमें एक से अनेक होने की कामना उत्पन्न हुई तो उस कामना ने इसे श्रमशील और तपस्वी बना दिया । उसी से इसमें त्रयी विद्या उत्पन्न हुई । यहाँ त्रयी सबकी प्रतिष्ठा है । स्वयम्भू के इस ब्रह्मनिःश्वसित प्राणात्मक वेद से अप-तत्त्व प्रधान तथा पितृ-प्राण प्रधान परमेष्ठी उत्पन्न हुआ । स्वयम्भू का वेद ब्रह्म कहलाया परमेष्ठी का वेद सुब्रह्म । जैसे शरीर में अग्नि स्वेद उत्पन्न करती है वैसे ही स्वयम्भू के अग्नि तत्त्व से परमेष्ठी का अप तत्त्व उत्पन्न हुआ इसीलिए परमेष्ठी के अप तत्त्व को स्वेद कहा गया और वहाँ का वेद सुवेद कहलाया । आपः प्रधान होने के कारण यह ब्रह्मस्वेद सत्य न होकर ऋत्था, किन्तु परमेष्ठी का अग्नि तत्त्व उसमें प्रविष्ट हो गया । इसलिए वह भी सत्य कह दिया गया । इस अग्नि के प्रवेश से ही आपः अण्ड रूप में परिणत हो गया—तद्यत् तत्सत्यम् आप एव तदापो हि वै सत्यम् स त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्तत । (शतपथ ब्राह्मण ६.१.१.७) । अग्नि के संसर्ग से ऋत का सत्य में बदल जाना ही आण्डभाव है । पानी की बूँद इसी सत्य भाव के कारण सदा गोल बनती है । एक ओर आपः अग्नि से उत्पन्न हो रहा है, दूसरी ओर वह सूर्य को जन्म देने के कारण अग्नि का पिता भी है । यह सौर्य अग्नि ही देवाग्नि है । यहाँ देव प्राण प्रधान है और इसका वेद गायत्री मात्रिक है । चन्द्रमा का वेद भी सुब्रह्म है सोमवेद है । अन्तर इतना है कि परमेष्ठी का देवता पवमान सोम है, चन्द्रमा का देवता वृत्र सोम है । इसके अनन्तर पुनः अग्निवेद पृथ्वी का यज्ञ मात्रिक वेद आता है ।

इस प्रकार विश्व के पाँचों पर्वों में पाँचों वेदों का देव तथा प्राण की दृष्टि से निम्न रूप होगा—

वेद	लाक	देव	प्राण
ब्रह्मनिःश्वसित	स्वयम्भू	ब्रह्माग्नि	ऋषि

ब्रह्मस्वेद	परमेष्ठी	पवमानसोम	पितृ
गायत्रीमात्रिक	सूर्य	देवाग्नि	देव
सुब्रह्म	चन्द्र	वृत्रसोम	पशु
भूतवेद	पृथ्वी	भूताग्नि	भूत

विश्व के पाँच पर्वों में प्रत्येक के तीन-तीन मनोता

पाँचों पर्वों से जुड़े इन पाँचों वेदों के अपने-अपने मनोता अर्थात् मन, प्राण और वाक् हैं। ये मन, प्राण, वाक् ही आत्मा है। ब्रह्माग्निदेवताक स्वयम्भू वेद का वाक् वेद है, प्राण सूत्र है, मन नियति है। वेद से प्रजा की सृष्टि होती है। सूत्र मात्रा निर्धारित करता है और नियति स्वभाव या प्रकृति निर्धारित करती है। इसके प्राण ऋषि हैं। ऋषितत्त्व का विवेचन देवताधिकरण में पृथक् से किया गया है। सोम देवताकपरमेष्ठी लोक के ब्रह्मस्वेद नामक सोम वेद के तीन मनोता हैं—इरा, उर्क और गौ जो क्रमशः वाक्, प्राण और मन है। देवाग्नि देवताक, सूर्य के गायत्री मातृक वेद के वाक् प्राण मन क्रमशः ज्योति, गौ और आयु है। यहाँ के प्राण देव हैं इनका वर्णन देवताधिकरण में है। वृत्रसोम देवता चन्द्रलोक के अथर्ववेद के वाक्, प्राण और मन क्रमशः रेतः, यज्ञ और श्रद्धा है। भूताग्नि देवताक पृथ्वी लोक के यज्ञ मात्रिक वेद के वाक्, प्राण और मन—ऋक्, साम और यजुः है। इस प्रकार पाँच पर्व के पाँच वेदों के तीन-तीन मनोता है। छान्दोग्योपनिषद् इन्हीं मनोताओं के ये पाँच पर्वों के तीन-तीन मनोताओं के लिए कहा गया है यानि पञ्चधा त्रीणि-त्रीणि (छान्दोग्य उपनिषद् २/२/३)। प्रकृति के सदा पाँच तत्त्व होते हैं। आत्मा का सम्बन्ध तीन से है। पाँच लोक, पाँच चन्द्र कलाओं से जुड़े हैं—स्वयम्भू प्राण से, परमेष्ठी आपः से, सूर्य वाक् से, चन्द्र अन्न से तथा पृथ्वी अन्नाद से। ये ही पाँच पर्व क्रमशः पाँच भूतों से ही जुड़े हैं—स्वयम्भू आकाश से, परमेष्ठी जल से, सूर्य अग्नि से, चन्द्रमा वायु से और पृथ्वी पृथ्वी से।

ऊपर दिये गये तत्त्ववेद के स्वरूप को हमने शास्त्रीय सन्दर्भों के आधार पर व्याख्यायित किया है। इससे यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो गयी है कि वेदतत्त्व समस्त सृष्टि के निर्माण की प्रक्रिया में ओत-प्रोत है। इसमें ऋक्, यजुष् साम की त्रयी तथा अथर्वा का अपना-अपना योगदान देते हैं। अब सिंहावलोकन की दृष्टि से प्रथम त्रयी के समष्टि रूप को और पुनः ऋक् यजुः और साम के पृथक्-पृथक् स्वरूप को एकत्र दे दिया जाता है ताकि तत्त्ववेद का स्वरूप और अधिक स्पष्ट हो सके। क्योंकि यद्यपि यह विषय सरल नहीं तथापि विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त सारगर्भित है। इसीलिये इसका विस्तार किया जा रहा है।

त्रयी के अनेक आयाम

ऋक्, यजु और साम तीनों परस्पर जुड़े हुए हैं। तीनों को एक दूसरे के साथ जोड़कर ठीक से समझा जा सकता है। ऋक् वेद का सम्बन्ध अग्नि से है, किन्तु अग्नि में वायु और आदित्य भी समाहित हैं। इसलिए ऋक् में दूसरों भी तत्त्व हैं। नभ्य प्रजापित ऋग्वेद है, महिमा प्रजापति सामवेद है और उद्गीथ यजुर्वेद है। ऋक् आत्मप्रतिष्ठ है, साम परप्रतिष्ठ है, यजुर्वेद भूतप्रतिष्ठ है। ऋग्वेद

प्रतिष्ठा वेद है, यजुर्वेद आत्मवेद है, सामवेद ज्योतिर्वेद है। ऋग्वेद आत्मधृति है। यजुर्वेद असतोधृति है, सामवेद सतोधृति है, यजुर्वेद असतोधृति है, सामवेद सतोधृति है। यह ऋक् की दृष्टि से है। यजु की दृष्टि से ऋग्वेद उक्थ है, यजुर्वेद ब्रह्म है, सामवेद साम है। साम की दृष्टि से ऋग्वेद ज्ञान ज्योति है, यजुर्वेद भूत ज्योति है, साम वेद सत्य ज्योति है। मन से युक्त होने पर साम वेद आनन्द है यजुर्वेद प्राण है, ऋग्वेद वाक् है। ऋग्वेद विष्कम्भ है, यजुर्वेद हृदय है, साम परिणाह। ऋग्वेद महदुक्थ है, यजुर्वेद पुरुष है, सामवेद महाव्रत है।

ऊपर हमने तीन प्रकार की धृति बताई है। इनमें आत्मधृति का अर्थ है पदार्थ का होना, असतोधृति का अर्थ है अपूर्व की उत्पत्ति और सतोधृति का अर्थ है एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ पर टिकना। इसी प्रकार तीन ज्योतियों में सूर्य, चन्द्र, तारक, विद्युत् और अग्नि ये भूत ज्योति हैं। नाम, रूप सत्यज्योति है और निर्विषयक तथा सविषयक ज्ञान ज्योति है। ज्ञान ज्योति होने पर भी भूत ज्योति तभी तक काम करती है जब तक उसे भूत ज्योति का अन्न मिलता रहता है।

भूत ज्योतियों में सूर्य मुख्य है। सूर्य के अभाव में चन्द्र, चन्द्र के अभाव में अग्नि, अग्नि के अभाव में भी शब्द का सहारा लेते हैं। किन्तु यदि शब्द भी नहीं हो तो आत्मा का सहारा लेते हैं। अतः आत्मज्योति ही सब ज्योतियों का आधार है—*तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्*।

अब तक हमने त्रयी को समष्टि रूप में कहा, व्यष्टि रूप में भी त्रयी को बता देना उचित होगा। सर्वप्रथम ऋक् को लें। ऋक् पिण्ड का निर्माण करता है इसलिए प्रजापति है। ऋक् प्रजापति ने क्योंकि सञ्चय करके शरीर की रचना की, इसलिए उसका नाम ऋच हो गया—

अथेमानि प्रजापतिर्ऋक्पदानि शरीराणि सञ्चित्याभ्यर्चत ।

यदभ्यर्चत ता एवर्चोऽभवत् । (जैमिनीय ब्राह्मण १.१५.६)

पिण्ड का निर्माण जो अग्नि करता है, वह गार्हपत्य अग्नि कहलाता है। इसलिए कहा गया है कि ऋग्वेद से गार्हपत्य उत्पन्न हुआ—*ऋग्वेदाद्गार्हपत्योऽजायत । (षड्विंश ब्राह्मण ४.४)*। वस्तुतः समस्त लोक पिण्ड रूप ही है, इसलिए वे ऋक् ही हैं। *ऋक्सम्मिता वा इमे लोकाः । (कौषीतकि ब्राह्मण ११.१)* अध्यात्म में ठोस अस्थि ऋक् का प्रतिनिधि है—*अस्थि वा ऋक् (शतपथ ब्राह्मण ७.५.२.२५)* ।

मूर्त पिण्ड का जन्म ऋक् से होता है—*ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः । (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.८.७)* मूर्त पिण्ड ही पदार्थ का आकार है। वैदिक भाषा में इस तत्त्व को छन्द कहते हैं। छन्द का अर्थ है आच्छादित करने वाला—*छन्दांसि छन्दयतीति वा । (दैवत ब्राह्मण ३.१९)* ।

छन्दों को अग्नि का वस्त्र बताया गया है—*छन्दांसि अग्नेर्वासांसि । (मैत्रायणी संहिता ३.१.५)* छन्दों को अग्नि का वस्त्र बताने का कारण यह है कि पिण्ड का निर्माण जिस ऋक्तत्त्व से होता है वह ऋक्तत्त्व अग्नि से उत्पन्न हुआ है—*अग्नेर्ऋग्वेदः (शतपथ ब्राह्मण ११.५.८.३)* इसलिए ऋग्वेद में कहा गया है कि ऋक् अग्नि को बढ़ाती है—*ऋचस्तमग्निं वर्धयामसि । (ऋग्वेद १.३६.११)* ऋक् का सम्बन्ध अग्नि से है और अग्नि का सम्बन्ध वाक् से है—*वाग्वाग्निः ऋचामग्नि*

दैवतम् (यजुर्वेद ३६.११) इस बात की पुष्टि छान्दोग्य उपनिषद् भी करता है। वागेव ऋक् (छान्दोग्योपनिषद् १.१९) वाक् का अर्थ शब्द है। शब्द आकाश का गुण है और आकाश पञ्चभूतों में प्रथम है इसलिए वाक् उपलक्षण से पञ्चभूतों को बताती है। किसी भी पिण्ड का निर्माण पञ्चभूत से ही होता है अतः यह कहना उचित ही होगा कि वाक् ही पिण्ड का निर्माण करती है। वाक् ही सब भूतों को परस्पर जोड़ने के कारण सर्वव्यापिनी बनी हुई है—सन्धति वाचा सर्वाणि भूतान्यथो वागेवेदं सर्वमिति। (ऐतरेयारण्यक ३.१.६) ऋग्वेद से वाक् सूक्त में वाक् की सर्वव्यापकता का विस्तार से विवरण है। क्योंकि वाक् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है इसलिए ऋग्वेद से जुड़े हुए होता और शस्त्र-मन्त्र का सम्बन्ध भी वाक् से ही जोड़ा गया है—वागेव होता। (गोपथ ब्राह्मण १.२.१०) वाग्घि शस्त्रम् (ऐतरेय ब्राह्मण ३.४४)। जैमिनीय ब्राह्मण में स्पष्ट कह दिया गया कि वाक् ही ऋक् है—वागेवर्क (जैमिनीय ब्राह्मण २.३९)। पिण्ड ही पिण्ड में होने वाली क्रिया तथा पिण्ड के महिमामण्डल का आधार है। इसलिए ऋक् रूप वाक् को ऐतरेय ब्राह्मण में योनि कहा गया है—वाग्योनिः। (ऐतरेय ब्राह्मण, २.३२) तीनों लोकों में मूर्ति भूपिण्ड का सम्बन्ध ऋग्वेद है—अयं लोक ऋग्वेदः (षड्विंश ब्राह्मण १.५) जैमिनीय ब्राह्मण भी कहता है भू ही ऋग्वेद है—भूरित्येव ऋग्वेदः। (जैमिनीय ब्राह्मण १.३५७) शतपथ ब्राह्मण में वाक् का ऋग्वेद के साथ सम्बन्ध बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—वागेवर्ग्वेदः। (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १४.४.३.१२)।

हमने ऊपर ऋक् से मूर्त पदार्थ की उत्पत्ति की बात की है। मूर्त का अर्थ है—वस्तु का आयाम, विस्तार, उत्सेध और घनता। ऊपर जो हमने वेद को सच्चिदानन्द रूप बताया है उसमें ऋग्वेद सत् रूप है।

पिण्डनिर्माण की प्रक्रिया

पिण्ड में तेज और स्नेह दोनों हैं। तेज विकास है स्नेह सङ्कोच है। विकास को प्राण और सङ्कोच को रथि कहते हैं। प्राणाग्नि रथि को ग्रहण करती है। जब सोम अग्नि को मूर्च्छित कर देता है तो पिण्ड का निर्माण होता है। स्नेह मूर्च्छा उत्पन्न करता है, इसीलिए भोजन के बाद शरीर की अग्नि मूर्च्छित हो जाती है। पिण्ड वाक् है इसलिए उसे प्रतिष्ठा कहा जाता है। ये ही सतोधृति है। मनोमयी वाक् प्रतिष्ठा आत्मधृति है। प्राणमयी वाक् प्रतिष्ठा असतोधृति है। मूर्ति नाम, रूप और कर्म की समष्टि है। मनोमयी वाक् रूप है, प्राणमयी वाक् कर्म है। वाङ्मयी वाक् नाम है। ऋग्वेद नभ्य प्रजापति है। यही उक्थ है, बिन्दुओं का सञ्चय है। इसके कारण वस्तु में आयाम, विस्तार, उत्सेध और घनता बनते हैं। इन चारों का नाम मूर्ति है। व्यास ही परिधि बनता है। ऋक् ही साम बनता है। वस्तु का पिण्ड प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता, साममण्डल दिखाई देता है। ऋक् और साम दोनों छन्द होने के कारण वयोनाथ कहलाते हैं—छन्दांसि वै देवा वयोनाथाः। छन्दांसि हीदं सर्व वयुनं नद्धम्; यजुर्वयः है। वयोनाथ तथा वयः मिल कर वयुन कहलाते हैं। ऋक् और साम दोनों छन्द हैं। ऋक् चित्वाग्नि का छन्द है, साम प्राणाग्नि का छन्द है। केन्द्र से लेकर परिधि तक उत्तरोत्तर ऋग्वेद का विष्कम्भ छोटा होता रहता है। बिना पिण्ड के न महिमामण्डल है, न गति है, न साम है, न यजु है। ऋग्वेद ज्ञानज्योति है।

यजुर्वेद

दूसरी ओर यजुर्वेद आत्मवेद है। वह असतोधृति है। भूत ज्योति है, प्राण रूप है। वही वस्तु के स्वरूप का निर्माण करता है। ऋक् और साम भातिसिद्ध हैं। यजु ही सत्तासिद्ध है, वह हृदय है। हृदय को बिन्दु समझना चाहिए।

बिन्दु का कोई आयाम नहीं होता। इसलिए उसे अनिरुक्त कहा जाता है। प्रजापति हृदय है—*प्रजापतिर्यद्बृहदयम् (शतपथ ब्राह्मण १४.८.४.१) अनिरुक्तो वै प्रजापतिः (शतपथ ब्राह्मण १.१.१.१३)*। हृदय कारण है, वस्तु कार्य है। हृदय अन्तर्यामी है वह पदार्थ का अन्दर से नियन्त्रण करता है हृदय अणोरणीयान् है मण्डल महतोमहीयान् है। यह हृदयप्रजापति ही गर्भ में विचरण करने वाला कहलाता है—*प्रजापतिश्चरति गर्भे* इसीलिए पुरुष को गर्भ कहा गया है—*पुरुष उ गर्भः (जैमिनीय ब्राह्मण ३/३६/३)*। विष्कम्भ और परिणाह दोनों हृदय का विस्तार है। हृदय की समष्टि वस्तु पिण्ड है। यजु अनेक है। रस स्थिति है गति बल है, यजु दोनों का समन्वय है। इसलिए इसे मन कह सकते हैं। यजु का विस्तार विष्कम्भ है, विष्कम्भ का विस्तार परिधि है। प्रजापति विष्कम्भ और परिणाह को जन्म देकर स्वयं विलीन हो जाता है इसलिए इसे अनिरुक्त कहते हैं। उद्गीथ निरुक्तानिरुक्त है, सर्वनिरुक्त प्रजापति है। नभ्य नाभि बिन्दु है, उद्गीथ मूर्ति पृष्ठ है और सर्वबहिःपृष्ठ है। तीनों वेदों में अग्नि है। पिण्ड में रहने वाला अग्नि यजुर्वेद है, ऊर्ध्वगमन करने वाला अग्नि ऋग्वेद है तथा आगमन करने वाला अग्नि सामवेद है। यजुर्वेद के मन्त्र ग्रह कहलाते हैं। जहाँ ऋग्वेद का विष्कम्भ उत्तरोत्तर छोटा होता है और साम वेद का मण्डल बढ़ता है, वहाँ यजुर्वेद का केन्द्र न बढ़ता है, न घटता है। यजुर्वेद विज्ञान रूप है, जो सत्ता को आनन्द से जोड़ता है। यही पुरुष है। यजु गति है। गति यजन है। यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है। इसलिए यजु को असतोधृति कहा जाता है।

यजुः से क्रिया

पदार्थ के पिण्ड में होने वाली क्रिया का सञ्चालन वायु प्राण करता है और इस वायु प्राण से ही उत्पन्न होने के कारण यजुर्वेद क्रिया का वेद है—*यजुर्वेदो वायोः (जैमिनीय ब्राह्मण १-३.५.७)* वस्तुतः यजुः शब्द दो शब्दों से बना है यत् और जु—*यच्च जृश्च तस्माद्यजुः। (शतपथ ब्राह्मण १०.३.५.२)* यजु वायु है, गति है, जू आकाश है, स्थिति है। गति कं ब्रह्म है, स्थिति खं ब्रह्म—*कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति। यद्वाव कं तदेव खम्। प्राणञ्च हास्मै तदाकाशञ्चोचुः (छान्दोग्योपनिषद् ४.१०)*। गति और स्थिति दोनों परस्पर सापेक्ष है, इसलिए दोनों साथ रहती हैं। यजु की गति के कारण ही पदार्थ जीर्ण होते हैं—*स एष एव यजुः एष, हीदं सर्वं जरयति (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण १.८.१.९)*।

ऋक् यदि पिण्ड है और साम उसका महिमामण्डल है तो यजुः उन दोनों का यजन अर्थात् मिलन करवाने वाला है—*यजुषा ह वै देवा अग्रे यज्ञं तेनिरे (शतपथ ब्राह्मण ४.६.७.१३)* इसलिए ही कहा जाता है कि यजु में ऋक् और साम दोनों को अपने में समेट रखा है—*ऋक्सामे यजुरपीतः गति से सम्बद्ध होने के कारण यजु ही मन है—अथ यन्मनो यजुष्टत् तथा, मन एव यजुः। (जैमिनीय*

ब्राह्मण २.३९) इसलिए यजुर्वेद में मन और यजुः का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है—*मनो यजुः प्रपद्ये। (यजुर्वेद ३६.१)* ऋक् पिण्ड का आकार है साम उसका महिमामण्डल है। ऋक् पिण्ड की सीमा है साम महिमामण्डल की सीमा है किन्तु इन दोनों के बीच यजुः ही प्रतिष्ठित है। पिण्ड और मण्डल दोनों सीमा हैं अतः ऋक् और साम पद्यात्मक हैं। किन्तु यजुः उन दोनों के बीच किसी छन्द में नहीं बँधता अतः गद्यात्मक है। पिण्ड और मण्डल दोनों स्थिर है। उनके बीच यजुः ही गतिमान है। शतपथ ब्राह्मण कहता है कि ऋक् और साम अमृत है। इन दोनों के बीच रहने वाला मर्त्य होने पर भी यजुः मरता नहीं—*तस्मान् मृत्युर्न भ्रियते अमृते ह्यन्तः। (शतपथ ब्राह्मण १०.५.१.४)* पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा स्थिर ऋक् और साम के कारण ही होती है। किन्तु उसमें परिवर्तनशीलता यजुः के कारण आती है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का स्थिर पक्ष भी है और परिवर्तनशील पक्ष भी है इसलिए प्रत्येक पदार्थ में ऋक् और साम रहते हैं और यजुः भी रहता है। जहाँ परिवर्तनशीलता है वहाँ स्थिरता है। जहाँ स्थिरता है वहाँ परिवर्तनशीलता है—*अन्तरं मृत्योरमृतं... मृत्यावमृतमाहितम्। (शतपथ ब्राह्मण १०.५.२.४)* यही अमृत और मृत्यु का एक दूसरे में सन्निवेश है—*निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च। यजु ही पदार्थ को धारण करता है इसलिए यह उसका रस है, जो वस्तुतः निरुक्त होते हुए भी अनिरुक्त ही है—तस्मात् यजूषि निरुक्तानि सन्त्यनिरुक्तानि (शतपथ ब्राह्मण ४.६.७.१७)* यदि अस्थि ऋक् है तो मज्जा यजुः है—*मज्जा यजुः। (शतपथ ब्राह्मण २.१.४.५)।*

अधिदैवत में सूर्य के गति करने पर सबमें गति आ जाती है इसलिए सूर्य ही यजुः है। दूसरी ओर अध्यात्म में प्राण के होने पर गति होती है, इसलिए प्राण यजुः है—*आदित्य एव चरणं यदा ह्येव एष उदेत्यथेदं सर्वं चरति तदेतद् यजुः स पुरश्चरणमधिदैवतमथाध्यात्मं प्राण एव यजुः प्राणो हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति प्राण यन्तमिदमनु प्रजायते तस्मात्प्राण एव यजुः (शतपथ ब्राह्मण १०.३.५.३-४)।*

सामवेद

सामवेद ज्योतिर्वेद है। इसे विज्ञान वेद भी कहते हैं। साममण्डल बनाता है, यही बाह्य आकार है, यही परिणाह है। साम को ऋचाओं का पति कहा जाता है—*साम वा ऋचः पतिः। ऋक् स्त्री है, साम पुरुष है। साम में 'सा' ऋक् है 'अम्' साम है।*

साम प्रजापति की वास्तविक विभूति है। मूर्ति सोमगर्भित अग्निपिण्ड है। यह स्पृश्य है और यहाँ अग्नि मूर्छित है। महिमा दृश्य है और यहाँ अग्नि मूर्छित नहीं है। मूर्ति पद है। महिमा पुनः पदम है। महिमा ही साम है। साम ही सर्व प्रजापति है, जो नभ्य प्रजापति यजु का विस्तार है। साम पर पदार्थ समाप्त हो जाता है, इसलिए साम को निधन कहते हैं। ऋक् के समान साम भी वयोनाथ है। ऋग्वेद के मन्त्र शस्त्र हैं, यजुर्वेद के ग्रह हैं और साम वेद के स्तोत्र। शस्त्र अग्नि से होता है, ग्रह वायु से और स्तोत्र आदित्य से। ८४ लाख योनियां प्रजापति ने शस्त्र कर्म द्वारा बनाई है। उनके मण्डल का निर्माण स्तोत्र कर्म के द्वारा हुआ है। ये ऋक् और साम दोनों वाक् हैं। इनमें प्राण का आधान अध्वर्यु ने किया और मन का आधान ब्रह्मा ने। प्राणगर्भित मन ही ग्रह है। ऋक् का धर्म सङ्कोच है, साम का धर्म विकास है। साम सत्तावेद है, साम को वृत्त भी कहा

जाता है क्योंकि वृत्त का अर्थ समापन है और साममण्डल पर ही पदार्थ समाप्त होता है। साम वेद तेज का वेद है। यह सत्य ज्योति है।

साम के भेद

परिधि साम है, परिधि विष्कम्भ से त्रिगुणित से कुछ अधिक होती है इसलिये साम ऋचा से तिगुना कहा जाता है—*त्यृचं साम*। परिधि व्यास की अपेक्षा तिगुनी से कुछ अधिक इसलिये होती है कि वस्तु केवल पिण्ड ही नहीं है, उसका मण्डल भी है, जो पिण्ड से बड़ा होता है। साम प्रजापति की विभूति है। यजुरूप केन्द्र ही विष्कम्भरूप ऋक् में और परिणाह रूप साम में परिणत होता है, और स्वयं विलीन हो जाता है। यजुः हृदय के तीन रूप हैं—नभ्य, उद्गीथ और सर्व। नभ्य अनिरुक्त है, उद्गीथ निरुक्तानिरुक्त है और सर्वनिरुक्त है। वस्तु के भी तीन ही रूप हो जाते हैं—नाभि बिन्दु मूर्तिपृष्ठ जो स्पर्श की सीमा है और बहिःपृष्ठ जो दृश्य की सीमा है। साम के तीन रूप हैं—(१) रथन्तर साम, वस्तु का वह मण्डल है, जो वाक् अथवा अग्नि से जुड़ा होने के कारण हमें दृष्टिगोचर होता है। यह घौ से जुड़ा है। यह सूर्य की सीमा तक है। (२) शाक्वर साम दिङ्मण्डल है। (३) वैरूप साम आपो मण्डल है। यह गौ से जुड़ा है तथा पर्जन्य पर्यन्त है। जिस प्रकार पृथ्वी के तीन साम हैं, उसी प्रकार सूर्य के तीन साम हैं—वृहत्साम, वैराजसाम और रैवत साम। सूर्य के ये तीनों साम क्रमशः ज्योति, गौ और आयु से जुड़े हैं। पृथ्वी और सूर्य के ये साम एक दूसरे का अतिक्रमण कर जाते हैं, जिन्हें सामों का अतिमान कहते हैं। हमारे चक्षु का एक साम है, पदार्थ का दूसरा साम है। इन दोनों के परस्पर जुड़ने पर हमें पदार्थ दिखाई देता है।

वेद का कहना है कि प्रत्येक पदार्थ का प्राण महिमा-मण्डल होता है। जिस भी पदार्थ का महिमा मण्डल हमारे चक्षु के महिमा मण्डल से मिल जायेगा वह पदार्थ हमें दिखाई देगा। इसके लिये उस पदार्थ के प्रकाश को चल कर हम तक आने की आवश्यकता नहीं है। वेद के अनुसार जैसे ही कोई पिण्ड बनता है उसके साथ ही उसका महिमामण्डल भी बन जाता है। अतः पिण्ड का प्रकाश हम तक गति करके आता है—ऐसा कहना ठीक नहीं है।

प्रसिद्धि है कि साम के सात रूप हैं—*सप्तविधं सामोपासीत्*। पारावत पृष्ठ ३३ अहर्गण तक है। अयुग्म स्तोम को दृष्टि में रखें तो पारावृत पृष्ठ के भी छः खण्ड हो जायेंगे—९, १५, १७, २१, २७, और ३३। इनमें सातवां मूर्ति पिण्ड जुड़ जायेगा। मूर्तिपिण्ड को हिङ्कार कहते हैं, ९ प्रस्ताव है, १५ आदि, १७ उद्गीथ, २१ प्रतिहार, २७ उपद्रव और ३३ निधन। ये ही साम के ७ प्रकार हैं। इन्हें शब्द के सहारे समझा जा सकता है—शब्द की व्युत्पत्ति से पहले अग्नि का नोदनात्मक और वायु का प्रक्रमण हिङ्कार है। स्थान और करण के संयोग से मुख में उत्पन्न होने वाला शब्द प्रस्ताव है। मुख से निकल कर वाक् समुद्र में वीचि उत्पन्न करने वाला शब्द आदि है। दूसरे व्यक्ति के कर्ण कुहर तक पहुंचने वाला शब्द उद्गीथ है। श्रवण का मन्द होना प्रतिहार है। श्रवणाश्रवण उपद्रव है, और शब्द का उपराम निधन है।

सूर्य में इसी सप्तविध साम को घटायें तो अरुणोदय हिङ्कार है, संगव प्रस्ताव है, प्रातः आदि है, मध्याह्न उद्गीथ है, मध्याह्नोत्तरकाल प्रतिहार है, अपराह्न उपद्रव है, सायंकाल निधन है।

पूर्वपूर्व मण्डल ऋक्, उत्तरोत्तर मण्डल साम

पिण्ड का मण्डल एक के बाद दूसरा बनता है। उत्तर-उत्तर के मण्डल की अपेक्षा पूर्व का मण्डल पिण्ड ही है। अतः उसे ऋक् कह सकते हैं। दो मण्डलों के बीच जो वस्तु तत्त्व है, वह यजुर्वेद है। इस प्रकार सामवेद में भी तीनों वेदों का अन्तर्भाव है। यजुर्वेद गतिरूप है। यह पदार्थ का केन्द्र भी है। पदार्थ का केन्द्र जैसे-जैसे उत्तरोत्तर गति करता है, वह न छोटा होता है और न बड़ा होता है। इसलिये यह बढ़ते हुए एक ऋजु रेखा को ही बनाता है। यही यजुर्वेद है। जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते हैं, वस्तु का मण्डल वृद्धि को प्राप्त होता है। यही सामवेद है। वस्तु का मण्डल तो बढ़ता है किन्तु आगे बढ़ने के साथ वस्तु का विष्कम्भ छोटा होता जाता है। इसीलिए वस्तु दूर से छोटी दिखायी देती है। यह छोटा हुआ विष्कम्भ ही ऋग्वेद है। इस प्रकार यजुर्वेद में भी तीनों वेद समाहित हैं। पदार्थ की स्थिति को हम यूँ समझें कि यदि एक पदार्थ को उसके चारों ओर मण्डल बनाकर सौ लोग देख रहे हैं और वे पदार्थ से दस गज की दूरी पर हैं तथा उस मण्डल में सौ से अधिक लोग नहीं समा सकते, तो वह मण्डल दस गज की दूरी पर बनने वाला पदार्थ का एक मण्डल हुआ तथा दस गज की दूरी पर बनने वाला पदार्थ का एक मण्डल हुआ तथा दस गज की दूरी से वह पदार्थ यदि पाँच गज का दिखायी देता है, तो वह पदार्थ का विष्कम्भ हुआ। मान लें कि उस पदार्थ को एक साथ सौ की जगह पाँच हजार व्यक्ति एक साथ देखना चाहते हैं तो उसका एक ही उपाय है कि उस मण्डल को बड़ा कर दिया जाये और मण्डल को बड़ा करने का एक ही उपाय है कि मण्डल १० की दूरी पर न बनकर सौ गज की दूरी पर बने। हम पदार्थ से दूर गये तो मण्डल बढ़ गया, किन्तु जो पदार्थ १० गज की दूरी से पाँच गज का दिखायी देता था वही १०० गज की दूरी से १ गज का दिखायी देता है अर्थात् पदार्थ का विष्कम्भक छोटा न हो गया, किन्तु पदार्थ का केन्द्र न छोटा हुआ न बड़ा। वह ऋजु रेखा में रहा।

साम से तेजोमण्डल की उत्पत्ति

पदार्थ का तीसरा पक्ष उसका प्रभाव क्षेत्र है इस प्रभाव क्षेत्र को महिमामण्डल का वितान भी कहते हैं। क्योंकि पदार्थ का वितान या विकास उसके प्रभाव क्षेत्र तक रहता है उसके बाद नहीं। यह महिमामण्डल ही सामतत्त्व है। यह कहा जा चुका है कि हमें जो दिखाई देता है वह पिण्ड नहीं, अपितु पिण्ड का महिमामण्डल होता है। इस साम द्वारा ही पदार्थ का ग्रहण होता है। इस साम द्वारा ही पदार्थ का ग्रहण होता है इसलिए साम को साम कहते हैं—*साम्ना समानयन् तत्साम्नः सामत्वम् एषा ह वै साम्नः प्रतिष्ठा यन्निधनम्*। पदार्थ पिण्ड से लेकर महिमामण्डल तक रहता है इसलिए पिण्ड या ऋक् उसका प्रस्ताव है, प्रारम्भ बिन्दु है, महिमामण्डल या साम उसका निधन है अन्तिम बिन्दु है—*एषा ह वै साम्नः प्रतिष्ठा यन्निधनम्—जैमिनीय ब्राह्मण २.४२०*। साम के दो भाग हैं—छन्दार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पिण्ड के अन्दर रहने वाली अग्नि छन्दार्चिक है पिण्ड के बाहर महिमामण्डल में रहने वाली अग्नि उत्तरार्चिक है। ये दोनों अर्चियाँ साम है—*अर्चिः सामानि—जैमिनीय ब्राह्मण १०.५.१.५* पिण्ड का निर्माण वाक् से होता है साम का निर्माण प्राण से होता है—*तस्मात् प्राण एव साम—जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण ३.१.१.१८*। क्योंकि साम

नेजरूप है इसलिये जहां गोपथ प्राण को तेज बतला रहा है—प्राणा एव महः—गोपथ ब्राह्मण १.५.१५ वहां जैमिनीय ब्राह्मण प्राण को साम बतला रहा है—प्राणा एव साम। (जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण) ।

शतपथ ब्राह्मण कहता है साम प्राण है और प्राण में ही समस्त भूत अन्तर्निहित है—प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि। (शतपथ ब्राह्मण १४.८.१४.३) ।

ऋग्वेद का देवता अग्नि है यजुर्वेद का वायु, तो सामवेद का देवता आदित्य है—सामवेदः आदित्यात् जैमिनीय ब्राह्मण १.३५७ ।

वैदिक परम्परा में किसी नियम के पालन की अवधि पूर्ण होना व्रत कहलाता है इसलिये व्रत शब्द अन्त का पर्यायवाची हो गया—अन्तो महाव्रतम्—ताण्ड्य ब्राह्मण ५.६.१२ । क्योंकि किसी पदार्थ का अन्तिम छोर उसके महिमामण्डल तक ही होता है इसलिये महिमामण्डल अथवा साम को महाव्रत कहा जाता है सर्वाणि सामानि यन्महाव्रतम्—जैमिनीय ब्राह्मण २.३०४ ।

आदित्य से जुड़े होने के कारण साम तेजरूप है—अर्चिः सामानि—शतपथ ब्राह्मण १०.५.१.५ । इसका सम्बन्ध देवलोक से है—देवलोको वै साम (तैत्तिरीय संहिता ७.५.१.५) पिण्ड में उसके महिमामण्डल से बढ़कर कुछ भी नहीं इसलिये साम को वृहत् कहा जाता है—साम वृहत्—जैमिनीय ब्राह्मण १.१२८ ।

ऋक् छन्द रूप है साम गायन रूप है—गायन्ति हि साम। (शतपथ ब्राह्मण ४.४.५.६) ऋक् ही संगीतबद्ध होने पर साम कहलाती है—ऋचि साम गीयते वही, ८.१.३.३ तथा ऋग्घि रथन्तरं साम वृहत्—जैमिनीय ब्राह्मण १.१३३ । उसके वीर्य का जो भर्जन हुआ वह भृगु कहलाया तथा उसके सब अङ्गों से जो रस क्षरित हुआ वह अङ्गीरस कहलाया ।

संगीत के कारण साम साम है संगीत के बिना साम ऋक् है ।

साम के संगीत की बहुत प्रशंसा है—एतद्वै साम्नायतनं प्रियं धाम यत्स्वरः। जैमिनीय ब्राह्मण १.११२ साम शब्द को दो भागों में तोड़ा जाता है सा और अम् । 'सा' ऋक् है 'अम्' साम—गोपथ ब्राह्मण २.३.२०—सैव नामर्गासीत् अमो नाम साम—गोपथ ब्राह्मण २.३.२० ।

इससे पूर्व कि इस सामवेद के बाद अथर्व पर आयें ऋक् यजुः साम की त्रयी पर पृथक् विचार करने के अनन्तर एक सिंहावलोकन कर लेना उपयोगी होगा । उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि त्रयी का रूप निम्न बनता है—

	ऋक्	यजुः	साम
देवता	अग्नि	वायु	आदित्य
लोक	भूः	भुवः	स्वः
छन्द	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती
आत्मा	वाक्	मन	प्राण

पिण्ड	अर्थ	क्रिया	ज्ञान
अग्नि	गार्हपत्य	दक्षिणाग्नि	आहवनीयाग्नि
त्रिदेव	ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र

मन या नाभि ज्ञाता है। मूर्ति या वाक् ज्ञेय है। महिमा या प्राण ज्ञान है। व्याकृत इन तीनों में केवल मूर्ति है। मन और प्राण दोनों अव्याकृत हैं। इन तीनों की त्रयी की अनेक प्रकार से समझा जा सकता है।

चित्	मन	आत्मा	विश्वातीत	नाभि	अणोरणीयान्	ज्ञाता	प्रज्ञा
चेतना	प्राण	इन्द्रियाँ	विश्वात्मा	महिमामण्डल	महतोमहीयान्	ज्ञान	प्राण
अचित्	वाक्	भूत	विश्व	मूर्ति	मध्यमपरिमाण	ज्ञेय	भूत

अथर्ववेद : सोमवेद

अब तक हमने तीन वेदों की चर्चा विस्तार से की, क्योंकि हमारा सीधा सम्बन्ध तीन लोक और तीन देवताओं से ही है—भूः, भुवः और स्वः तथा उनके देवता क्रमशः हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। किन्तु शास्त्र कहता है कि चतुर्थ लोक भी है आपोलोक। इसकी व्याप्ति २१ अहर्गण से ३३ अहर्गण तक है। यहाँ सोम है। २१ अहर्गण तक अग्नि का साम्राज्य है। इसके अनन्तर सोम है जिसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

हमारे सौरमण्डल में सोम का प्रतिनिधित्व चन्द्रमा करता है। इसलिये अथर्व का सम्बन्ध चन्द्रमा से भी बताया गया है। ऋचामग्निर्देवतं पृथिवीस्थानम् । यजुषां वायुर्देवतमन्तरिक्षस्थानम् । साम्नामादित्यदैवतं द्यौः स्थानम् । अथर्वणां चन्द्रमा देवतमापः स्थानम् । (गोपथ ब्राह्मण) अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है। इस दृष्टि से सोम-वेद (अथर्ववेद) त्रयी ऋक्, यजुः और साम का आधार बनता है। और त्रयी का वस्तु के स्वरूप निर्माण में जो योगदान ऊपर बताया गया है, वह योगदान अथर्व के बिना सम्भव नहीं है। अतः अथर्व को सब कुछ उत्पन्न करने वाला कहा गया है—*ब्रह्मणा ह वा इदं सर्वम्*।

कामना करने पर प्राण तत्त्व उद्बुद्ध होता है। उससे जो आपः रूप स्वेद होता है वही अथर्ववेद है। वही सुवेद भी है। हम कह चुके हैं कि यत् गतिरूप है जू स्थितिरूप। गति से तेज होता है, स्थिति से स्नेह। तेज अङ्गिरा है, स्नेह भृगु। अङ्गिरा की तीन अवस्थाएँ हैं—अग्नि, यम, आदित्य। भृगु की भी तीन अवस्थाएँ हैं—आपः, वायु, सोम। अङ्गिरा की त्रयी से देव सृष्टि होती है। भृगु की त्रयी में आपः से असुर-सृष्टि, वायु से गन्धर्व-सृष्टि तथा सोम से पितर-सृष्टि होती है। तीन भृगु और तीन अङ्गिरा मिलकर षड्ब्रह्म कहलाये। ब्रह्म निःश्वसित लक्षण वेद तथा ब्रह्मस्वेदवेद में परस्पर दाम्पत्यभाव है। स्वयम्भू वेदाग्नि आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में गयी। इससे आपोमय समुद्र में अङ्गिरा नामक सांयोगिक अग्नि उत्पन्न हुआ। आग्नेय परमाणु आपोमय समुद्र में वेग

से भ्रमण करने लगे । यही परमाणु केन्द्रित होकर सूर्य बन गये । सूर्य नाराः अर्थात् आपः को अपना आयतन बताने के कारण नारायण कहलाया ।

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।

ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

(मनुस्मृति १/१०)

अङ्गिरा भाग के अग्नि, वायु और आदित्य प्राणों से ऋक्, यजुः और साम उत्पन्न हुए । ये सौर वेद या अग्निवेद हैं । स्वयम्भू वेद भी अग्नि वेद है । वह ब्रह्माग्नि वेद है । सौर वेद देवाग्नि वेद है । स्वयम्भूवेद स्वयं उत्पन्न होता है, देववेद प्रथमज है ।

सोऽकामयत । आभ्योऽद्भ्योऽधि प्रजायेय इति ।

सोऽनया त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् । तत आण्डं समवर्तत ।

ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यतं “त्रय्येव विद्या” । तस्मादाहुर्ब्रह्मास्य

सर्वस्य प्रथमजं इति । अपि हि तस्मात् पुरुषात् ब्रह्मैव पूर्वमसृज्यत ।

तदस्य तन्मुखमेवासृज्यत । मुखं ह्येतदग्नेर्यद्ब्रह्म ।” —शतपथ ब्राह्मण ६/१/१०-११ ।

अथर्ववेद : सुवेद

ऊपर हमने कहा है कि अथर्ववेद का एक दूसरा नाम सुवेद भी है । सुवेद स्वेद का ही दूसरा नाम है । गोपथ ब्राह्मण कहता है कि प्रजापति ने सृष्टि के लिये जो श्रम और तप किया इससे उसके ललाट पर जो पसीना आया वही आपः है क्योंकि उस आपः के द्वारा ही प्रजापति ने अपनी कामनाओं को प्राप्त किया—तदपामापत्वम् आप्नोति ह वा सर्वान्कामान् यान् कामयते—गोपथ ब्राह्मण १.१.२ । इसे ही आपोबल कहते हैं । उस स्वेद से दो अन्य बल भी हुए धारा बल और जाया बल । क्योंकि ब्रह्म ने सोचा कि मैं इस स्वेद के द्वारा सब कुछ धारण करूँगा इसलिये वह धाराबल कहलाया, क्योंकि ब्रह्म ने सोचा कि मैं इसके द्वारा उत्पन्न करूँगा! इसलिये वह जाया बल कहलाया ।

अग्नि-वायु-आदित्य का क्षेत्र : विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ

अग्नि, वायु और आदित्य का अपना-अपना क्षेत्र है । किसी पदार्थ का महिमामण्डल जहाँ तक जाता है उस स्थान को हम ४८ भागों में बाँट लेते हैं और प्रत्येक भाग का नाम अहर्गण रख लेते हैं । इस प्रकार किसी को चार मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है । (१) ९ अहर्गण तक पहला भाग है । (२) दूसरा भाग १५ अहर्गण तक है तथा (३) तीसरा भाग २१ अहर्गण तक है । ये तीनों भाग अग्नि के हैं इसलिये इन तीनों में अग्नि के ही तीन रूप-अग्नि, वायु और आदित्य क्रमशः व्याप्त रहते हैं । २१वें अहर्गण पर सूर्य प्रतिष्ठित है और यहीं तक पृथ्वी का वह महिमामण्डल है, जो दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि किसी पदार्थ के दिखने में अग्नि ही कारण है । (४) २१ वें अहर्गण से ३३ वें अहर्गण तक आपः प्रतिष्ठित है । इसे विष्णुपृष्ठ कहते हैं । इस आपः को अर्णवसमुद्र कहा जाता है । इसी की अपेक्षा पृथ्वी को सागराम्बर अर्थात् समुद्रों से घिरी हुई कहा जाता है ।

२१ वें स्तोम तक पृथ्वी यज्ञिया - उख्या पृथिवी कहलाती है । ९ अहर्गण ऋद्धमय अग्नि है । १५ तक यजुर्मय वायु है । २१ तक साममय आदित्य है और ३३ तक सोममय अथर्व है - जो भृगु तथा अङ्गिरस का समन्वित रूप है ।

इस अकार वेद पूरे विश्व में व्याप्त है । अग्नि का सम्बन्ध पदार्थ से है । पदार्थ का निर्माण अग्नि ही करता है । समष्टि में पदार्थ को विराट् कहते हैं । इस विराट् में कर्म शक्ति है । यही ऋग्वेद का क्षेत्र है । १५ अहर्गण तक वायु है । इस क्षेत्र में हिरण्यगर्भ है । हिरण्यगर्भ कर्म और ज्ञान का समन्वित रूप है । १५ से २१ अहर्गण तक सर्वज्ञ है । वह ज्ञान रूप है और २१ से ३३ तक महद् ब्रह्म है । वह चित् शक्ति रूप है । ३३ से ४८ अहर्गण तक वाक्पृष्ठ है जिसे ब्रह्मपृष्ठ भी कहा गया है । यह महिमा मण्डल की अन्तिम सीमा है ।

अग्नि का सम्बन्ध ऋग्वेद से है—इस बात को ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र में इङ्गित कर दिया गया है, जहाँ अग्नि को सामने रखा हुआ बता कर उसकी पुरोहित के रूप में स्तुति है—*अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्, होतारं रत्नधातमम्—ऋग्वेद १/१/१* । पुरोहित का अर्थ है जो पुरः = अर्थात् सामने, हित = रखा हुआ है यह पार्थिव अग्नि है । यजुर्वेद का सम्बन्ध क्रिया से है । क्रिया का नियन्त्रण व्रतों से होता है, इसलिये क्रिया के वेद यजुर्वेद को व्रतों का पति कहा गया है—*अग्नेर्व्रतपते व्रतं चरिष्यामि यच्छकेयम्* । सामवेद का सम्बन्ध आदित्य से है अतः सामवेद के प्रथम मन्त्र में दूरस्थ आदित्य अग्नि का आह्वान “आयाहि” कह कर किया गया है—*अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये निहोता सत्सि बर्हिषि* । अथर्ववेद का देवता सोम है सोम त्रिसप्तात्मक है । अतः अथर्ववेद के प्रारम्भ में त्रिषप्त का उल्लेख है—*ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा* ।

ऋक् सत्, साम चित्, यजु आनन्द

हमने प्रारम्भ में वेद को ब्रह्म की भाँति सच्चिदानन्द स्वरूप बताया है । सभी वेद सच्चिदानन्द हैं पर सभी वेदों में सत्-चित्, आनन्द की एक सी मुख्यता नहीं है । यजुर्वेद में आनन्दरूप मुख्य है, ऋग्वेद में सद्-रूप मुख्य है और साम वेद में चिद्-रूप मुख्य है ।

यह समझ लेना चाहिये कि वेद की दृष्टि में कोई पदार्थ जड़ नहीं है । जिन्हें हम जड़ कहते हैं, उनमें इन्द्रियां नहीं हैं । इसलिये उनकी चेतना प्रकट नहीं हो पाती, किन्तु चेतना है उनमें भी—*खादीन्यात्मा मनः कालो दिशश्च द्रव्यसङ्ग्रहः । सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्* । अतः जड़ हो या चेतन, सभी पदार्थों में अर्थ, क्रिया और ज्ञान अथवा वाक्, प्राण और मन तीनों हैं । इसी दृष्टि से वेदों में पत्थरों को सम्बोधित करके ऐसा कहा गया है कि हे पत्थरों सुनों । यह प्रमत्त प्रलाप नहीं है । पाषाण में भी चेतना है, इसलिये उसे भी सम्बोधित किया जा सकता है । वाक्, प्राण और मन के इस रूप को जान लेने के बाद हम यह समझ सकते हैं कि तीन वेदों में से सत्, चित् तथा आनन्द किस-किस में क्यों मुख्य है । हमने कहा कि मूर्ति ऋक् से बनती है, स्पष्ट है कि ऋक् पदार्थ का स्वरूप है । इसे ही हम सत् कहते हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि ऋक् का सम्बन्ध सत् से है । पदार्थ का प्रत्यक्ष हमें साममण्डल के कारण हो सकता है, अतः साम ज्ञान का कारण है इसलिए साम को चित् कहा जायेगा । पदार्थ का अपना स्वरूप यजुः है । उपलब्ध

पदार्थ ही होता है। अतः लाभ का भाव यजुः है। यही आनन्द है। इस प्रकार आनन्द यजुः से, सत् ऋक् से और चित्, साम से जुड़ा है।

यजुः आत्मवेद, ऋक् प्रतिष्ठावेद, साम ज्योतिर्वेद

यजुर्वेद पदार्थ का अपना स्वरूप है इसलिये उसमें आनन्द है। उसे आत्मवेद भी कह सकते हैं। ऋक् पिण्ड है। वह सबकी प्रतिष्ठा है। उसे प्रतिष्ठावेद कह सकते हैं। साम चित् है। चित् ज्योति है इसलिये उसे ज्योतिर्वेद कह सकते हैं।

तीनों वेदों का तीनों में समावेश

तीनों वेदों का तीनों वेदों में समावेश है। कोई वेद अपने शुद्ध रूप में नहीं है। तीनों तीनों में समाविष्ट है। किसी भी वेद का नामकरण मुख्यता के आधार पर होता है। जहां जो तत्त्व प्रधान है, उसे उसी नाम से जान लिया जाता है किन्तु शेष तत्त्व भी उसमें रहते अवश्य हैं। इसे इस रूप में समझें कि वायु में वायु प्रधान है, किन्तु अग्नि और आदित्य भी गौण रूप से हैं। अग्नि में अग्नि प्रधान है, वायु और आदित्य गौण है। आदित्य में आदित्य प्रधान है वायु और अग्नि गौण है। यजुर्वेद में यजुः तत्त्व प्रधान है। किन्तु उसमें ऋग्वेद और साम वेद भी है। ऋग्वेद को उक्थ और साम वेद को साम कहेंगे, स्वयं यजुर्वेद ब्रह्म कहलायेगा। इसी प्रकार जहां ऋग्वेद मुख्य होगा, वहां प्रतिष्ठा के सन्दर्भ में हम ऋग्वेद को आत्मधृति-वेद, यजुर्वेद को असतोधृति वेद और साम वेद को सतोधृति वेद कहेंगे।

ऋक् आनन्द, साम सत्, यजुः चित्

इसी बात को दूसरी तरह समझें। तैत्तिरीय उपनिषद् का कहना है कि सब कुछ आनन्द से ही उत्पन्न होता है, आनन्द पर ही टिका है तथा आनन्द में ही लीन हो जाता है—*आनन्दाद्भ्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति*। दूसरी ओर जहां से पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उसे उक्थ कहा जाता है। हर पदार्थ का अपना उक्थ है, किन्तु जहां से सब पदार्थ उत्पन्न हो उसे महदुक्थ अथवा महोक्थ कहते हैं। आनन्द रूप जिस महोक्थ से सारा संसार उत्पन्न होता है, वह ऋक् तत्त्व है। अतः ऋक् तत्त्व को महोक्थ कहा जाता है।

जब तक कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, तब तक क्रिया बनी रहती है। पदार्थ के उत्पन्न होने पर क्रिया का अवसान हो जाता है। यह अवसान ही साम तत्त्व है। इस अवसान साम तत्त्व को महाव्रत कहा जाता है, जो सत्ता का वाचक है। यही साम वेद है।

आनन्द रूप ऋग्वेद तथा सत्ता वेद सामवेद के मध्य में यजुर्वेद है, जो विज्ञानरूप है तथा जो सत्ता की उपलब्धि कराकर आनन्द देने के कारण सत्ता को आनन्द से जोड़ने वाला है। इसे ही पुरुष अथवा यजुः नाम से जाना जाता है। प्रत्येक पदार्थ का आनन्द भाग ऋक् तत्त्व है, जो उक्थ है। विज्ञान भाग यजुः है, वह ऊर्क है तथा सत्ता भाग साम है। इस प्रकार वेद सच्चिदानन्द रूप है। आनन्द, विज्ञान और सत्ता भी तीन भागों में बँटे हैं (१) एक प्रविविक्त, विश्वातीत परमात्मा,

जो अविज्ञेय है। उसका आनन्द, विज्ञान और सत्ता नित्य है। (२) दूसरा प्रविष्ट विश्वेश्वर विश्वात्मा। उसका आनन्द, चेतना और सत्ता आत्मानन्द आत्म ज्ञान तथा आत्म सत्ता है और (३) तीसरा सृष्ट विश्व, जिसका आनन्द, सत्ता और ज्ञान विषयानन्द विषयसत्ता और विषयज्ञान कहलाता है। ये तीनों ही प्रकार के सच्चिदानन्द तीनों वेदों से जुड़े हैं।

ऋग्वेद में तीनों वेद

आत्मधृति का अर्थ है अस्ति अर्थात् पदार्थ का होना। यही ऋग्वेद है। असतोधृति का अर्थ है पदार्थ का निर्माण होना अर्थात् अपूर्व की उत्पत्ति, यही यजुस्तत्त्व है। सतोधृति का अर्थ है एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ का टिकना। यही साम तत्त्व है। क्योंकि साममण्डल पिण्ड अर्थात् ऋक् पर टिका रहता है, अतः ऋक् आत्मप्रतिष्ठा है, साम पर-प्रतिष्ठा है, जिस प्रकार आत्म स्वप्रतिष्ठा है तथा शरीर परप्रतिष्ठा है। यजुः गति है। गति ही यजन है और यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है इसलिये यजुः को असतोधृति कहा है। इस प्रकार ऋग्वेद में ही तीनों वेदों का समावेश है। इनमें ऋक् आभ्यन्तर आकार है, साम बाह्यआकार। ये दोनों भातिसिद्ध हैं, यजु ही सत्तासिद्ध है। अस्यवामीयसूक्त में जिसे अस्थन्वन्त तथा अनस्थ कहा गया है उसे ही हम अस्तिसिद्ध तथा भातिसिद्ध कह रहे हैं। जो प्रतीति में आये किन्तु जिसकी बुद्धिगत ही सत्ता हो वह भातिसिद्ध है। जिसकी बुद्धि से बाहर वस्तुगत सत्ता भी हो वह अस्तिसिद्ध है। कणाद ने सामान्य विशेष जैसे धर्मों को बुद्ध्यपेक्ष कहा है—*सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्*—जबकि द्रव्य गुण कर्म को सत्ता शब्द से कहा है।

सामवेद में तीनों वेद

सामवेद तेज का वेद है। यह ज्योति रूप है। इसमें स्वयं साम सत्यज्योति है। यजुर्वेद भूतज्योति है। ऋग्वेद ज्ञानज्योति है। भूतज्योति (१) सूर्य, (२) चन्द्र, (३) तारक, (४) विद्युत् और (५) अग्नि भेद से पाँच प्रकार की है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

(कठोपनिषद् २, ५, १५)

सविषयक ज्ञान और निर्विषयक ज्ञान, ज्ञानज्योति है। इन तीनों ज्योतियों का परस्पर सम्बन्ध है। जब तक ज्ञान है तभी तक भूतज्योति और सत्यज्योति दृष्टिगोचर होती हैं। इसी प्रकार ज्ञान-ज्योति भूत-ज्योति पर निर्भर है। भूत-ज्योति का अन्न जब तक इसे मिलता है, यह अपना काम करती है। भूत ज्योतियों में भी सूर्य मुख्य है। इसलिये सूर्य को चराचर की आत्मा बताया गया है। सूर्य-ज्योति के अभाव में हमें चन्द्र-ज्योति का सहारा लेना होता है। वह भी न हो तो अग्नि का सहारा लेते हैं। अग्नि के अभाव में शब्द का सहारा लेते हैं, और शब्द भी न हो तो आत्मा का सहारा लेते हैं।

यजुर्वेद में तीनों वेद

यजुर्वेद आत्मवेद है। आत्मा का अर्थ है उक्थ, ब्रह्म और साम। उक्थ उद्भव है, ब्रह्म स्थिति है। साम समानभाव से व्याप्त रहता है। कार्य कारण से उत्पन्न होता है। कार्य को धारण करता है और उसी में व्याप्त रहता है, इसे ही आत्मा कहते हैं।

वाक् प्राण मन तथा त्रयी

वाक् नाम का उक्थ है, वाक् पर ही नाम प्रतिष्ठित है तथा वाक् विभिन्न नामों में समान रूप से रहता है। इसी प्रकार चक्षु के तारा के अग्रभाग में रहने वाले रूप मन में उठते हैं, उसी पर प्रतिष्ठित हैं, तथा वही मन रूपों में व्याप्त है। इसी तरह प्राण कर्मों का उक्थ है, उनकी आधार भूमि है, और सभी कर्मों में वह व्याप्त रहता है।

वाक्, मन, प्राण को इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि शरीर आधार है जिसमें क्रिया होती है, क्रिया प्राण है किन्तु कोई क्रिया मन के आधार के बिना नहीं होती। इस दृष्टि से उसके तीन रूप हो जाते हैं—कामना, क्रिया और शरीर। कामना मन है, क्रिया प्राण है तथा शरीर वाक् है। ये तीनों मिलकर ही आत्मा है। जहाँ मन प्रधान है वह प्रजापति का विश्वातीत रूप है, जहाँ प्राण प्रधान है वह विश्वात्मा रूप है, और जहाँ विश्व प्रधान है वह वाक् रूप है। नाभि “अणोरणीयान्” है, महिमा “महतोमहीयान्” है। सबका उक्थ नभ्य प्रजापति है, वही ऋग्वेद है। महिमा प्रजापति साम वेद है, वह प्राण है। वाग् लक्षण उद्गीथ यजुर्वेद है। उक्थ रूप में इन्द्र विश्व आत्मा है, अर्क रूप में विश्व उपादान है और अशीति रूप में विश्वमूर्ति है। अशीति क्षर प्रधान शुक्र है, अर्क अक्षर प्रधान ब्रह्म है, उक्थ-प्रधान अमृत है। इनमें उक्थ पुरुष है, अर्क प्रकृति है अशीति विकृति है। अव्यय ज्ञानघन है, अक्षर क्रियामय है, क्षर अर्थमय है। अव्यय विश्वाल्म्बन है, अक्षर निमित्त कारण है, क्षर उपादान कारण है।

वाक् प्राण तथा मन की कलाओं वाला यह त्रिकल आत्मा ही आत्मवेद अथवा यजुर्वेद है—*त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म । तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि नाभान्युत्तिष्ठन्ति एतदेषां साम । एतद्धि सर्वैर्नाभिः समम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति । अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि रूपाणि उत्तिष्ठन्ति । एतदेषां साम । एतद्धि सर्वैः रूपैः समम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति । अथ कर्मणां आत्मा इत्येतदेषामुक्थम् । अतो हि सर्वाणि कर्माणि उत्तिष्ठन्ति । एतदेषां साम । एतद्धि सर्वैः कर्मभिः समम् । एतदेषां ब्रह्म । एतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति । तदेतत्त्रयं सदेकमयमात्मा । आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम् ।—बृहदारण्यकोपनिषद् ६/१/१-३ । इसमें उक्थ ऋक् है ब्रह्म पुरुष है साम महाव्रत है। उक्थ ऋक् है ब्रह्म यजुः है और साम साम है। इस प्रकार यजुर्वेद में ही तीनों वेदों का भाग है।*

रेखागणित तथा त्रयी

तीन वेदों में तीनों वेदों के समावेश की एक अन्य प्रक्रिया भी है। रेखागणित की दृष्टि से विचार करें तो बिन्दु ही फैलकर व्यास बन जाता है और बिन्दु ही परिधि बनता है। बिन्दु के बिना रेखा नहीं और रेखा के बिना न व्यास है और न परिधि। हृदय बिन्दुओं का सञ्चय है विष्कम्भ, तथा विष्कम्भों का सञ्चय है मूर्ति। बिन्दु अनिरुक्त। यह अनिरुक्त बिन्दु ही पदार्थ के गर्भ में रहता है, यही पदार्थ को जन्म देता है, इसलिए इसे प्रजापति कहा जाता है। इस अनिरुक्त हृदय का निरुक्त पिण्ड में बदल जाना ही सृष्टि का अभिव्यक्त हो जाना है।

पञ्चदेव तथा त्रयी

वस्तु के इस त्रयीमय रूप के वेदों की परिभाषा में समझने के अनन्तर देवों की भाषा में समझ लेना भी उचित होगा। भूत क्षर है। देव तत्त्व अक्षर है। यह देवतत्त्व वस्तु के स्वरूप की दृष्टि से पाँच भागों में बाँटा है।

हम पहले कह चुके हैं कि इनमें तीन का सम्बन्ध केन्द्र से है, दो का पिण्ड से है। केन्द्र से सम्बन्ध तीन देवताओं का है—विष्णु, इन्द्र और ब्रह्मा। पिण्ड का सम्बन्ध भी तीन देवताओं से है इन्द्र, अग्नि और सोम। हृदय शब्द में तीन अक्षर हैं ह - द और यम्। ह का सम्बन्ध नियमन से है। हम पहले द्विविध गति बतला चुके हैं। विष्णु केन्द्राभिमुखगति द्वारा पदार्थ का पोषण करता है। इसे ही आगति भी कहते हैं। इन्द्र दान द्वारा परिधि की ओर गति से पदार्थ का क्षय करता है। इसे गति कहते हैं। ब्रह्मा इस आदान-प्रदान के बीच समन्वय स्थापित करके पदार्थ की स्थिति बनाये रखता है। ये तीनों अन्तर्यामी कहलाते हैं। क्योंकि ये हृदय में स्थित हैं। इन तीनों के द्वारा वस्तु का हृदय पृष्ठ बनता है। पदार्थ का अन्तःपृष्ठ पिण्ड है। इसका निर्माण अग्नि और सोम से होता है। अग्नि विकास है, सोम सञ्कोच है, अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। ये ही दो पिण्ड को बनाते हैं। यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि हृदय पृष्ठ और अन्तःपृष्ठ के बाद दो पृष्ठ और हैं—बहिःपृष्ठ तथा पारावत पृष्ठ। २१ वें अहर्गण तक बहिःपृष्ठ है तथा ३३ वें पर्यन्त पारावत पृष्ठ हैं। पदार्थ बहिःपृष्ठ पर्यन्त ही दृष्टिगोचर होता है। पारावत पृष्ठ के भी तीन खण्ड हैं ११ तक आपो लोक है, २२ तक वायु लोक तथा ३३ तक सोम।

वस्तु के पञ्चपृष्ठ तथा त्रयी

वस्तु का प्राण मण्डल ४८ अहर्गण तक जाता है। ४८ अहर्गण तक ब्रह्म पृष्ठ है, जिसे तीन भागों में बाँटा गया है। २४ तक गायत्र है ४४ तक त्रैष्टुभ है। ४८ तक जागती है। इस प्रकार पदार्थ के कुल मिलाकर पाँच पृष्ठ है। (१) हृदय पृष्ठ (२) अन्तःपृष्ठ (३) बहिःपृष्ठ (४) पारावत पृष्ठ (५) ब्रह्म पृष्ठ। वेद की पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें क्रमशः हिङ्कार, प्रस्ताव उद्गीथ, प्रतिहार और निधन कहते हैं और जो हमने हृदय, विष्कम्भ और परिणाह की चर्चा की है उनका सम्बन्ध अन्तः-पृष्ठ से है जिसे पिण्ड कहा जाता है तथा जिसका हम स्पर्श कर सकते हैं। बहिःपृष्ठ हमारी दृष्टि का विषय है। इसके ही तीन खण्ड होते हैं—अग्नि, वायु और आदित्य।

दशवादाधिकरण

जगत् उत्पन्न कैसे हुआ—इस जिज्ञासा का समाधान बहुत कुछ हम ब्रह्माधिकरण के अन्तर्गत कर चुके हैं। जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ हमने ब्रह्माधिकरण में कहा है, वह सिद्धान्तपक्ष है, किन्तु जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे और भी मतों का सङ्केत प्राप्त होता है जो विभिन्न विचारकों में प्रचलित रहे होंगे। ऐसे सभी मतों को पण्डित मधुसूदन ओझा ने नासदीय सूक्त के आधार पर दस भागों में बाँट दिया है—१. सदसद्वाद, २. रजोवाद, ३. व्योमवाद, ४. अपरवाद, ५. आवरणवाद, ६. अम्भोवाद, ७. अमृतमृत्युवाद, ८. अहोरात्रवाद, ९. देववाद, १०. संशयवाद।

इन दशवादों का आधार नासदीय सूक्त की निम्न पङ्क्तियाँ हैं—

- (१) नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्मभः किमासीद् गहनं गभीरम् ।
- (२) न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्ना आसीत्प्रकेतः ।
- (३) अर्वाग्देवा... को वेद यत आबभूव ।

प्रस्तुत अधिकरण में हम इन्हीं दशवादों का परिचय देंगे।

पहले तो हमें समझ लेना चाहिये कि इन सभी वादों में सृष्टि के मूल कारण का अनुसन्धान किया गया है। दृश्यमान सृष्टि के सभी पदार्थ दिक्देशकाल से अवच्छिन्न हैं। यदि हम किसी ऐसे पदार्थ को सृष्टि का मूल कारण मानें जो दिक्देशकाल से अवच्छिन्न हो तो वह पदार्थ भी सृष्टि का ही अङ्ग हो जायेगा और उस पदार्थ को सृष्टि का कारण मानना ऐसा ही होगा जैसे कोई कहे कि “क” का कारण “क” ही एक अंश है। यह स्पष्ट है कि इससे हमारी जिज्ञासा पूरी नहीं हो सकती। कारण को कार्य के अव्यवहित पूर्व में रहना चाहिये, जबकि अवयव अवयवी का सहवर्ती होता है, वह पूर्ववर्ती नहीं हो सकता। जो कुछ दिक्देशकाल से अवच्छिन्न है वह तो कार्य जगत् वर्तमान में प्रत्यक्ष है ही, अब यदि हम उसका मूल कारण दिक्-देश-कालावच्छिन्न ही किसी पदार्थ को मान लेते हैं तो हमारा प्रश्न यह होगा कि उस अन्य पदार्थ का कारण क्या है? और

यदि उसका कारण भी कोई दिग्देशकालावच्छिन्न पदार्थान्तर ही हुआ तो उसके कारण की जिज्ञासा बनी रहेगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। इस अनवस्था दोष से बचने का एक ही उपाय है कि हम ऐसे तत्त्व को सृष्टि का कारण माने जो दिग्देशकाल से अवच्छिन्न न हो। ऐसा दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न जो तत्त्व है वही ब्रह्म है, वही जगत् का मूल कारण है। एक बार इस तथ्य को समझ लेने के बाद सत्, असत्, रज इत्यादि दिक्-देश-काल अवच्छिन्न पदार्थ भी अवान्तर कारण के रूप में सृष्टि की प्रक्रिया को समझने में सहायक हो सकते हैं, किन्तु वे सृष्टि के अवान्तर कारण ही हैं, मूल कारण नहीं।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जगत् का मूल कारण ब्रह्म है, सहायक कारण वे सब हैं जिनकी चर्चा सदसद्वादादि दशवादों में की गई है। इस दृष्टि से इन दशवादों की चर्चा को पूर्वपक्ष उसी स्थिति में कहा जा सकता है जब इन्हें ब्रह्मवाद से विच्छिन्न करके देखा जाये। किन्तु ब्रह्मवाद से जुड़कर ये सभी सृष्टि के रहस्य को खोलने में सहायक होते हैं। अतः इन दशवादों की चर्चा व्यर्थ वाक् जाल नहीं समझना चाहिए। इसी कारण वैदिक वाङ्मय में जो इन दशवादों की जो चर्चा हुई है उसकी पूरी सार्थकता है।

इन दशवादों का महत्त्व इसलिए भी है कि जो देशकालानवच्छिन्न होता है वह शब्द की पकड़ में नहीं आता है, शब्द की पकड़ में तो दृश्यमान सृष्टि की प्रक्रिया ही आ सकती है।

यह सत्य है कि जो देशकालावच्छिन्न न होगा उसे हम मन से भी न जान सकेंगे और शब्दों में भी नहीं कह सकेंगे। क्योंकि नाम और रूप उसी का हो सकता है जो किसी देश विशेष और किसी काल विशेष से बँधा हो। यदि सृष्टि का मूल कारण देशकालावच्छिन्न नहीं है तो उसका कोई भी रूप हमारे मन की पकड़ में। जो मन की पकड़ में नहीं आता, वह वाणी की पकड़ में भी नहीं आ सकता। प्रश्न हो सकता है कि जो मन और वाणी की पहुँच से परे है उसका वर्णन कैसे किया जा सकता है? उत्तर यह है कि यद्यपि उसका वर्णन तो नहीं हो सकता, किन्तु उसके कार्यों को देखकर उसका अनुमान अवश्य किया जा सकता है।

ज्ञान-विज्ञान

हम ऊपर कह चुके हैं कि कार्यों का विश्लेषण करना विज्ञान का काम है, जबकि कारण की खोज ज्ञान का विषय है। ज्ञान का विषय क्योंकि मन और वाणी की पकड़ से बाहर है इसलिये समस्त शास्त्र वस्तुतः विज्ञान का ही विस्तार है। एक भूल यह हुई कि जिनकी रुचि ज्ञान में थी उन्होंने विज्ञान की उपेक्षा कर दी। इसके भयङ्कर दुष्परिणाम हुए। प्रथम तो ज्ञान का विषय मूल कारण है और मूल कारण मन और वाणी की पहुँच से परे है इसलिये उस सम्बन्ध में चर्चा हो ही नहीं सकती। फलतः एक ऐसा सम्प्रदाय भी भारत में रहा जो सारे शास्त्र को व्यर्थ का वाक्जाल समझता रहा। इस सम्प्रदाय के कारण शास्त्र की उपेक्षा हुई, बुद्धि का विकास अवरुद्ध हो गया और बुद्धि के हास हो जाने पर जो सर्वाङ्गीण हास होता है वही सर्वाङ्गीण हास इस देश का हुआ। वस्तुस्थिति यह है कि हम कारण को कार्य के माध्यम से ही जान सकते हैं। विस्तार से चर्चा भी कार्य की ही हो सकती है तथा उपयोग में भी कार्य ही आता है। इस दृष्टि से कार्य का बहुत महत्त्व

है। विज्ञान भी इसी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भारत में जहाँ विज्ञान की उपेक्षा करने की भूल की, वहाँ भौतिक विज्ञान ने एक दूसरी भूल की कि मूल कारण की खोज करने वाले ज्ञान की उपेक्षा करके वह जड़ कटे पेड़ की तरह अधर में लटक गया और हमें भी उसने अपनी जड़ों से काट दिया।

वैदिक साहित्य की विशेषता यह है कि वह ज्ञान और विज्ञान दोनों को समान महत्त्व देता है। जहाँ मूल कारण की समझ हमें स्थिरता प्रदान करती है, वहाँ कार्यजगत् का विश्लेषण हमें गति प्रदान करता है। गति और स्थिति का यह सामञ्जस्य ही किसी जीवनदृष्टि को सर्वाङ्गीण बना सकता है।

वैदिक विज्ञान में कारण और कार्य दो पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं हैं। कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है। कारण और कार्य के परस्पर सम्बन्ध को लेकर भारतीय दर्शन में ऊहापोह हुआ है। इस सम्बन्ध में दो मत मुख्य हैं—एक मत कारण में ही कार्य को मानता है। इसे सत्कार्यवाद कहते हैं। यह साङ्ख्यदर्शन का मत है। दूसरा मत यह मानता है कि कार्य कारण में पहले से नहीं रहता। इसे आरम्भवाद अथवा असत् कार्यवाद कहते हैं। यह न्यायदर्शन का मत है। दशवादों में से प्रथमवाद-सदसद्वाद—में इन दोनों ही मान्यताओं का समावेश है।

सदसद्वाद

नासदीय सूक्त में कहा गया है कि महाप्रलय के समय न सत् था, न असत् था। वैदिक वाङ्मय में सत् और असत् दोनों से सृष्टि के उत्पन्न होने की बात की गई है। इस आधार पर स्पष्ट ही सद्वाद, और असद्वाद नाम के दो मत बन जाते हैं। एक तीसरा मत सदसद्वाद भी है। सद्वाद के अनुसार इस विश्व का कारण सत् होना चाहिए क्योंकि यह विश्व सत् रूप है और असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। साङ्ख्यदर्शन का मूल सिद्धान्त है कि सत् से ही सत् की उत्पत्ति होती है। इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन वेद इन शब्दों में करता है—*सतो अथ्या सज्जान। तै.स. ४/६/२/३ (अन्यदपि-ऋक् सं. १/९६/७, ऋक् सं. ८/१०१/११, ९/३१/६, ९/८६/५, १०/५३/११, तै. उप. २/६)।*

दूसरी ओर असद्वादियों का कहना है कि विश्व का प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है। इसलिए यह सृष्टि असत् रूप है और इसका कारण भी असत् ही होना चाहिए। इस मत में क्षणिकवाद का मूल मिलता है। ऋग्वेद कहता है—*असदिते विभु प्रभु। ऋक्संहिता १/९/५ (अन्यदपि—ऋक् सं. ९/८९/६, १०/७२/३, तै.ब्रा. २/२/९)।* स्वयं शतपथ ब्राह्मण में असत् का अर्थ ऋषि लिया है और ऋषि को प्राण कहा है—*असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीदिति। ऋषयो वाव तेऽग्रे सदासीत्। तदाहुः के ते ऋषय इति। प्राणा वा ऋषयः। (शतपथ ब्राह्मण ६.१.१)।* यदि असत् का अर्थ प्राण है तो सत् का अर्थ भूत माना जा सकता है। ये दोनों ही परमव्योम में अदिति की गोद में दक्ष के जन्म के समय रहते हैं—*असच्च सच्च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मनदितेरुपस्थे। (ऋग्वेद १०.५.७)।*

तीसरा मत सदसदवाद है। इस सृष्टि में परिवर्तन भी दिखाई देता है और स्थिरता भी। इसलिए इस सृष्टि का कारण असत् भी है और सत् भी। यजुर्वेद कहता है—*सतश्च योनिमसतश्च विवः* (यजुः संहिता १३.३)।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस वाद के अन्तर्गत जो अनेक ऊहापोह हो रहे थे, उनमें से एक यह था कि सत् भूत है जो असत् प्राण से उत्पन्न होता है। इस प्राण को ऋषि कहा गया और यह प्रतिपादित किया गया कि ऋषि प्राण से भूतसृष्टि होती है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेख करना प्रासङ्गिक होगा कि सभी क्षेत्रों में कुछ मूलभूत अवधारणाएं रहती हैं। विचारधारा कितनी ही विकसित क्यों न हो जाए, वह उस मूलभूत अवधारणा से जुड़ी रहती है। आज कम्प्यूटर के युग में यह बात बहुत स्पष्ट हो गई है। कम्प्यूटर के पास दो ही सङ्ख्या है—एक तथा शून्य। इन दो के सम्मिश्रण से वह पूरी वर्णमाला बना लेता है। वैदिक ऋषि की दृष्टि में जगत् के दो ही मूल तत्त्व हैं—अग्नि तथा सोम। इन्हीं के सम्मिश्रण से सब पदार्थ बने हैं। शब्द की सृष्टि में भी दो ही साधन हैं—ऊष्मा और स्पर्श। इनके सम्मिश्रण से पूरी वर्णमाला बन जाती है—*अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिवर्ज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति*। वेद में इस द्वैत का विस्तार अनेक रूपों में हुआ है—*अमृत तथा मृत्यु, शुष्कता तथा आर्द्रता, विस्तार तथा संकोच, गति तथा स्थिति*। ये ही द्वैत चिन्तन के क्षेत्र में सत् तथा असत् का द्वैत है। जिस प्रकार बाह्य जगत् में दो के मिश्रण से समस्तसृष्टि बनती है, उसी प्रकार चिन्तन के जगत् में भी सद और असद् की मूलभूत अवधारणाएं समस्त दार्शनिक चिन्तन को अपने में समेट लेती हैं। पण्डित मधुसूदन ओझा ने सत् और असत् इसी मौलिकता को लेकर पूरे भारतीय दार्शनिक चिन्तन को नये ढंग से वर्गीकृत किया है।

स्पष्ट है कि सत् एक लचीली अवधारणा है। सत् का शब्दार्थ तो अस्तित्व है। सत् शब्द से यह स्पष्ट नहीं होता कि सत् शब्द किसके अस्तित्व को बताता है। पण्डित ओझा ने अस्तित्व अथवा सत् के सात अर्थ लिये हैं—

१. विज्ञान
२. ब्रह्म
३. रस
४. कार्य
५. वाक्
६. उत्पत्ति-विनाश की प्रवाह-नित्यता
७. प्रकृति

इसी प्रकार असत् के भी सात अर्थ पण्डित ओझा ने किए हैं—

१. विज्ञान अथवा प्रत्यय
२. कर्म
३. बल

४. कार्याभाव
५. अभाव
६. प्राण
७. अव्यक्त बल

एक तीसरा विकल्प सदसद् का है। इसके भी सात ही अर्थ किये गये हैं—

१. आनन्द विज्ञान
२. ब्रह्मकर्म
३. रसबल
४. मिथ्याकार्य
५. मन
६. भावाभाव
७. चेतना

इस सारे विस्तार का अभिप्राय यह है कि पण्डित ओझा ने सत्-असत् की दो मूल अवधारणाओं में वैशेषिक, साङ्ख्य, वेदान्त के अतिरिक्त चार्वाक तथा बौद्ध का भी समावेश करके यह सिद्ध कर दिया कि समस्त भारतीय दर्शनों का समावेश वस्तुतः इन दो अवधारणाओं में सम्भव है। न्याय को वैशेषिक का, योग को साङ्ख्य का, पूर्व मीमांसा को उत्तर-मीमांसा का तथा जैन को बौद्ध का समान तन्त्र मान कर उनका पृथक् उल्लेख नहीं किया गया, यद्यपि इन मतों का भी समावेश यहाँ हो गया है।

प्राग्वैदिक दशवाद का सदसद्वाद में समावेश

जिस प्रकार पण्डित ओझा ने वेदोत्तरकालीन दर्शनों का समावेश सत्-असत् में किया है उसी प्रकार प्राग्वैदिकवादों का भी समावेश इन दो अवधारणाओं में सम्भव है। डा. श्रीमती प्रभावती चौधरी ने दशवाद रहस्य पर एक शोध पत्र में यह स्थापित किया कि दशोंवादों का समावेश सदसद्वाद में किया जा सकता है। उनका कहना है कि रजोवाद का सम्बन्ध गति से है। गति की अवधारणा में स्थिति समाहित ही है। ये गति-स्थिति ही अग्नि-सोम हैं, जिनकी चर्चा हम प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। इसी प्रकार व्योमवाद के भी दो पक्ष हैं—पर तथा अपर; पर अमृत है, अपर मर्त्य। ये भी सद-असद् रूप ही है। यही स्थिति अपरवाद की भी है, जिसके दो भाग परावर होने के कारण डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल उसका नाम ही परावर-वाद रखते हैं। पर और अपर क्रमशः सद तथा असद् ही है। आवरणवाद का उल्लेख हमने पहले प्रारम्भ में किया है। ऋग्-साम छन्द हैं अर्थात् आवरण हैं, यजु छन्दित अर्थात् पदार्थ है। आवरण असत् तथा पदार्थ सत् है। अम्भोवाद के दो तत्त्व भृगु-अङ्गिरा हैं जो सोम-अग्नि रूप ही हैं। अमृतमृत्युवाद तो स्पष्ट ही सद-असत् का दूसरा नाम है। अहोरात्र का अहः सत् तथा रात्रि असत् है तथा दैववाद का दुःख-सुख असत्-सत् है। सार यह है कि प्राग्वैदिक चिन्तन के मूल में भी असत्-सत् का द्वैत ही था।

इस प्रकार वेद अपने से पहले के तथा अपने परवर्ती दर्शनों के बीज भी अपने में छिपाये हुए है। इसीलिए मनु ने कहा था कि भूत और भविष्य सब वेद से ही प्रकट होता है। यह वाक्य मनु का श्रद्धातिरेक जैसा प्रतीत होता है किन्तु वस्तुस्थिति कुछ इससे भिन्न है। वेद सत् असत् की दो मूलभूत अवधारणाएं प्रस्तुत करके चिन्तन के मूल को कह देता है। जो भी चिन्तन सम्भव है वह इन दो मूलभूत अवधारणाओं से बाहर नहीं जा सकता। अतः भूत-भविष्य का मूल वेद में मानना श्रद्धा का विषय नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक सत्य है। यह उतना ही सत्य है जितना यह कहना कि कम्प्यूटर अतीत तथा भविष्य की सारी भाषाओं को पकड़ सकता है। सत् और असत् की अवधारणा के साथ नित्यता और अनित्यता जुड़ी है। हम ऐसा मानते हैं कि जो नित्य है वह सत् है जो क्षणिक है वह असत् है। इसलिये नित्य विज्ञान की सृष्टि का मूल मानने वाले ब्राह्मण सद्वादी हैं और क्षणिक विज्ञान को सृष्टि का मूल मानने वाले श्रमण असद्वादी हैं। एक तीसरा सिद्धान्त वह है जो सद् और असद् दोनों को सृष्टि का कारण मानता है। यह सदसद्वादी न श्रमण है न ब्राह्मण, मध्यस्थ है। यह विज्ञान के साथ-साथ आनन्द को भी सृष्टि का कारण मानता है। ये तीनों ही मत एक प्रकार से प्रत्ययवादी हैं, वस्तुवादी नहीं। क्योंकि ये सृष्टि का मूल किसी पदार्थ को न मानकर विज्ञान को मानते हैं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक विज्ञान पदार्थ-विज्ञान है। उसमें इस मत का कोई स्थान नहीं कि सृष्टि की उत्पत्ति चैतन्य से मान ली जाये और सृष्टि की स्थिति भी हमारे प्रत्ययों पर आधृत मानी जाये। उसकी दृष्टि में पदार्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है किन्तु पूर्व और पश्चिम के दार्शनिकों में एक ऐसा समुदाय है जो ब्रह्म पदार्थ की सत्ता को हमारे ज्ञान पर ही आधृत मानता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानता ही नहीं है।

जो क्षणिक है वह असत् है, जो नित्य है वह सत् है। ऐसा मानने पर दो तत्त्व हमारे ध्यान में आते हैं—एक कर्म दूसरा ज्ञान। सभी कर्म अस्थायी हैं। ज्ञान स्थायी है। जो सृष्टि को कर्म का ही तानाबाना मानते हैं वे असद्वादी कर्माद्वैत मानने वाले कहलाते हैं। परवर्ती काल में बौद्धों का यही सिद्धान्त बना क्योंकि कर्म उत्पन्न होता है और नष्ट होता है अर्थात् विनाशी है इसलिये कर्म को ही सृष्टि का मूल कारण मानने वाले श्रमण वैनाशिक कहलाये। ज्ञान नष्ट नहीं होता। इस ज्ञान को ही सृष्टि का मूल कारण मानने वाले ब्रह्माद्वैतवादी कहलाये। ब्रह्म में विश्वास करने के कारण ही ये ब्राह्मण कहलाये। जो सृष्टि के मूलमें कर्म और ज्ञान दोनों को मानते हैं वे द्वैताद्वैतवादी मध्यस्थ मत के समर्थक हैं।

दूसरी दृष्टि से विचार करने पर हमें अपने जीवन में दो मूलभूत तथ्य दिखाई देते हैं। एक शक्ति जिसे बल कह सकते हैं, दूसरी अनुभूति जिसे रस कहा जाता है। क्योंकि हमें रस और बल दोनों की प्रतीति होती है इसलिये रस बल दोनों को सृष्टि का मूलकारण मानने वाले सदसद्वादी मध्यस्थ मत के अनुयायी कहलाये। बल को ही मुख्यता देने वाले श्रमण असद्-वादी और रस को ही मुख्यता देने वाले ब्राह्मण सद्वादी कहलाये। इस प्रसङ्ग में रस को सत् और बल को असत् मान लिया गया है। अभिप्राय यह है कि हमारी अनुभूति नित्य है, शक्ति अनित्य। शक्ति आती है और चली जाती है किन्तु अनुभूति बनी रहती है। इसलिये सद्वाद पर विश्वास रखने वाले अनुभूति को महत्त्व देते हैं। असद्वाद पर विश्वास रखने वाले बल को महत्त्व देते हैं।

एक तीसरे प्रसङ्ग में हम असद् का अर्थ अभाव मान लेते हैं और सत् का अर्थ भाव । वैशेषिक मत का मानना है कि कार्य का कारण में अभाव होता है अतः कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् होता है । इसके विपरीत साङ्ख्य दर्शन का कहना है कि असत् से किसी पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती । कोई भी कार्य कारण में पहले से ही रहता है केवल अभिव्यक्ति बाद में होती है और इस अभिव्यक्ति को ही हम कार्य का उत्पन्न होना मान लेते हैं । एक तीसरा मत वेदान्तियों का है । जिनका कहना है कि कारण से कार्य का उत्पन्न होना एक भ्रान्ति है । वस्तुतः कार्य उत्पन्न होता ही नहीं । उत्पन्न न होने पर भी कार्य दृष्टिगोचर होता है यह एक पहेली ही है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती । अतः इस मत को अनिर्वचनीय कार्यवाद अथवा मिथ्याकार्यवाद कहा जाता है । एक चतुर्थ विकल्प भी है । बृहदारण्यकोपनिषद् में किसी पदार्थ के निर्माण में तीन तत्त्व माने हैं—प्राण, वाक् और मन । प्राण क्रिया को बतलाता है वाक् अर्थ को और मन ज्ञान को । हम पहले ही कह चुके हैं कि वेद-विज्ञान में तात्त्विक रूप से जड़ कुछ भी नहीं है । यह स्पष्ट है कि पदार्थ है, पदार्थ में त्रिया है और पदार्थ में ज्ञान है । इन्हीं तीन तत्त्वों को वाक्, प्राण और मन कहा जाता है । इसमें वाक् अर्थात् पदार्थ सत् है, प्राण असत् है और मन सदसद् है । प्रश्न होता है कि इन तीनों में मूल तत्त्व क्या है, जिससे शेष दो उत्पन्न हुए । उत्तर यह है कि जो प्राण को मूल मानते हैं वे असद्वादी हैं, जो वाक् को मूल मानते हैं वे सदवादी हैं, जो मन को मूल मानते हैं वे सदसद्वादी हैं ।

ऊपर हमने कहा है कि एक मत यह है कि कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अभाव रहता है । कार्य के इस अभाव को प्रागभाव कहते हैं । असत्वादी नैयायिकों के मत में प्रागभाव ही किसी कार्य का कारण होता है । इसके विपरीत साङ्ख्य मत में कोई पदार्थ असत् से उत्पन्न नहीं हो सकता । अतः सभी कार्यों का कारण प्रकृति है । उस प्रकृति में कार्य अभिव्यक्त होते रहते हैं, किन्तु प्रकृति निरन्तर बनी रहती है, इसलिये यह मत सदवादी कहलाता है । वेदान्त के मत में सृष्टि का मूल कारण विद्या तथा अविद्या है । संसार में जितने पदार्थ हैं उनमें दो तत्त्व हैं—रूप और रूपी । रूपी सदा बना रहता है वह सदरूप है, रूप बदलता है वह असद्रूप है । नाम और रूप तथा कर्म से जगत् का अभिव्यक्त हो जाना ही जगत् की उत्पत्ति है । यह अव्याकृत का व्याकृत हो जाना ही असद् से सद का उत्पन्न हो जाना है ।

एक विचार यह है कि अव्यक्त से ही सृष्टि उत्पन्न हुई । जो यह मानते हैं कि वह अव्यक्त तत्त्व बल था वे बौद्ध हैं । जो सत्त्व, रजस् और तमस् से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं वे साङ्ख्य हैं और जो यह मानते हैं कि इस दृश्यमान क्षर सृष्टि के पीछे एक अव्यय तत्त्व है, वे वेदान्ती हैं ।

इस प्रकार सत् और असत् शब्द की अनेक व्याख्याएं सम्भव हैं । असत् शब्द का अर्थ क्षणिक, विज्ञान, कर्म, बल, अभाव तथा प्राण हो सकता है जबकि सत् का अर्थ नित्यता, ब्रह्म, रस, वाक् अथवा प्रकृति हो सकता है । इसी सत् असत् के ताने बाने से यह सृष्टि चल रही है । वेद के सिद्धान्त पक्ष पर पहुँचने से पूर्व तथा वेद के बाद ही किसी ताने बाने के अन्तर्गत सृष्टि के कारण पर विचार होता रहा । जैसा हमने ऊपर कहाँ सद-असद्वाद के अतिरिक्त जो अन्य नौ वाद हैं, उनके मूल में भी कहीं न कहीं सद-असद् की बात अन्तर्निहित है ।

स्थिति पदार्थ में घनता लाती है, गति तनुता। स्थिति अमृत है, गति मृत्यु। सृष्टि में ये दोनों तत्त्व गति-स्थिति मृत्यु-अमृत, घनता-तनुता, रस-बल, प्रकृति-विकृति मिले हुए ही पाये जाते हैं। सद् और असद् युगल के ही ये विविध नाम हैं। इनमें जो स्थिति है वही ब्रह्म है। उस ब्रह्म में जगत् है और जगत् में ब्रह्म है अतः ब्रह्म और जगत् एक ही है, किन्तु फिर भी हम अपने विचार में दोनों को अलग-अलग करके समझ सकते हैं। जगत् में तो ब्रह्म व्यापक है ही किन्तु वह जगत् से परे भी है। इस प्रकार ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है। अन्य कारणों से कार्य की उत्पत्ति होने पर उस कारण में विकार आता है किन्तु ब्रह्म क्योंकि मूल कारण है, अतः वह कार्य को उत्पन्न करके भी स्वयं अविकृत ही रहता है।

रजोवाद

नासदीय सूक्त में सद्वाद और असद्वाद के अनन्तर रजोवाद का सङ्केत है। रजोवाद के अनुसार सृष्टि व्यापारों का सङ्घात है। व्यापार का अर्थ है क्रिया और क्रिया रजोगुण का काम है अतः ज्ञानमय सत्त्वगुण तथा जड़ तमोगुण से सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सृष्टि के मूल में रजोगुण भी है। इस रजस् का वर्णन वेद में अनेक स्थानों पर है—*योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः (यजुर्वेद ३२.६)*। रजोवाद की क्रियाशीलता की अवधारणा ने ही बाद में नटराज की अवधारणा को जन्म दिया। रजस् के दो रूप हैं—कृष्ण और शुक्ल। ये दोनों अहोरात्र है—*अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च वि वर्तेते रजसी वेद्याभिः (ऋग्वेद ६.९.१)* इस प्रकार रजोवाद बाद में कालवाद का जनक बन गया। रज क्रियाशीलता है तो अज स्थिति है। सात लोकों में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः तपः रज हैं किन्तु सातवां लोक सत्यम् अज है—*वि यस्तस्तम्भ षट्मिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्वित्देकम्। (ऋग्वेद १.१६४.६)* इनमें अज अव्यय पुरुष है, रज अक्षर है। सत्यलोक में इस तत्त्व या प्राण तत्त्व ने ही गति पैदा की उसी से द्युलोक और पृथ्वी का विभाजन हुआ।

क्रिया चार रूपों में उपलब्ध होती है, इसलिये रज के भी चार रूप हैं—गुण, अणु, रेणु और स्कन्ध। गुण शक्ति है, अणु शक्ति केन्द्र है, रेणु शक्तिवान् है और स्कन्ध शक्तिघन है। शक्ति के बिना कोई गति सम्भव नहीं। अतः रज का एक अर्थ गुण भी है। कुछ अणु स्वभावतः गतिशील हैं, कुछ स्वभावतः स्थितिशील हैं। किन्तु स्थितिशील तथा गतिशील अणु एक दूसरे के सम्पर्क से गतिशील एवं स्थितिशील तथा गतिशील अणु एक दूसरे के सम्पर्क से गतिशील एवं स्थितिशील हो जाते हैं। यह प्रक्रिया अणुओं को जोड़ती तोड़ती रहती है। अणुओं का परस्पर जुड़ जाना घनता का कारण है, विखण्डित हो जाना तरलता का कारण है। अणुओं के सङ्कोच को सोम और प्रसार को अग्नि कहते हैं। यही सङ्कोच और विस्तार समस्त लोकों को जन्म देता है इसलिये लोक का नाम भी रज है। लोकातीत परोरजा है। संसार में सब गतिशील हैं। गति का एक रूप है—प्रसारण-आकुञ्चन। प्राण और अपान यह प्रसारण आकुञ्चन का एक रूप है, सुषुप्ति-जाग्रत् दूसरा रूप है। सङ्कोच विकास तीसरा रूप है। प्रसारण सृष्टि है। आकुञ्चन प्रलय है। रजोगामी रज को आपः, वायु, प्राण इत्यादि विभिन्न नामों से कहते हैं। रज राग, द्वेष, और उदासीनता के कारण नये नये रूप और अपूर्व कर्म को जन्म देता है। रज का प्राण-अपान ही प्रसार सङ्कोच है,

यही उदय प्रलय है। वैदिक भाषा में इसे ही उदप्राभ और निप्राभ कहा जाता है। गति वर्तुलाकार रहती है। जो वृक्ष पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, वे पृथ्वी में ही जा मिलते हैं। यह प्रसारण व आकुञ्चन ही पदार्थों में विरलत्व और घनत्व उत्पन्न करता है। इन्हीं दो भेदों के कारण रज को दो प्रकार का कहा गया है—शुक्ल और कृष्ण। ये दोनों गतियाँ कालयुक्त हैं।

अग्नि का स्वभाव है-गति। सोम का स्वभाव है-स्थिति। ये दोनों एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। इनमें अग्नि बहिर्मुख है, सोम अन्तर्मुख है। अग्नि प्रसार है, सोम सङ्कोच है। अग्नि प्राण है, सोम अपान है। अग्नि और सोम का योग ही आपः है। आपः से समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है। आपः अत्यन्त सूक्ष्मप्राण है। इससे वायु उत्पन्न होती है। वह अपेक्षाकृत स्थूल है। सोम एक है। अग्नि परिमण्डल है। सोम घनता का कारण है। अग्नि विरलता का कारण है। घनता की अन्तिम सीमा भूमि है, विरलता की अन्तिम सीमा मन है। यदि कोई पदार्थ मन से भी अधिक विरल हो जाये तो वह भी अव्यक्त हो जाता है। जहाँ अग्नि और सोम की सृष्टि में भूमा अधिक है वह भूमि है और वह जल के सहित भूत कहलाती है, जहाँ अणिमा अधिक है वह प्राण है और मन के साथ वह देव कहलाती, वाक्, वायु और तेज देव भी है और भूत भी है। इस प्रकार पञ्चभूत ही पञ्चदेव हैं।

अणुओं से उत्पन्न होने पर भी जो जगत् में विविधता दिखाई देती है उसका कारण तप, स्वभाव और कर्म है किन्तु यह काल स्वभाव और कर्म भी गति का ही दूसरा नाम है। सूर्य, चन्द्र पृथ्वी आदि की ही गति काल है। अग्नि की ऊर्ध्वगति, जल की निम्नगामी गति स्वभाव है और कर्म तो गति का ही दूसरा नाम है। इस प्रकार समस्त जगत् का मूल कारण गति ही है।

गति के बिना द्यौ और पृथ्वी में विभाजन भी नहीं हुआ था। उस स्थिति को ही हम तम कहते हैं, क्योंकि तम में गति नहीं होती। केन्द्र गति के बिना अव्यक्त रहता है। उसमें गति आने पर लोकों की उत्पत्ति होती है। जिस सत् और असत् की चर्चा हमने पहले की है, वह भी गति का ही परिणाम है। अतः मूल कारण गति है। गति से विभाजन होने पर जब मन, प्राण और वाक् उत्पन्न होते हैं तो मन और प्राण असत् कहलाते हैं वाक् सत्। वाक् शब्द का नाम है, शब्द आकाश का गुण है। इसलिये वाक् वेद-विज्ञान में पञ्चभूतों का नाम है।

व्यक्तजगत् में सभी कुछ सीमित है, किन्तु इसका मूल अव्यक्त असीमित है। अव्यक्त शान्त है, व्यक्त गतिशील है।

गति सर्वव्यापक है। अतः आपः अर्थात् जल तत्त्व भी गति ही है, क्योंकि आपः सर्व व्यापक को कहते हैं। जो जल से सृष्टि की उत्पत्ति मानते हैं वे अम्भोवादी हैं, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि जल का भी मूल कारण गति है। वायु तो गति रूप है ही, किन्तु वायु से भी अधिक सूक्ष्म प्राण है और प्राण की पहचान गति ही है। ऋग्वेद में प्राण की सत्ता बिना वायु के मानी गई है।

प्राण के साथ अपान भी जुड़ा है। प्राण विस्तार है, अपान सङ्कोच। इसी विस्तार और सङ्कोच को अग्नि और सोम भी कहा जाता है। यह सङ्कोच और विस्तार अनेक रूपों में प्रकट होता है—जागृति, सुषुप्ति; तरल, घन; सृष्टि, तथा प्रलय। इनमें एक का नाम शुक्ल रजस् है दूसरे का

कृष्ण रजस् । इन दोनों के परस्पर सम्पर्क से एक क्षेत्र उत्पन्न हो जाता है । यही द्वन्द्व दिन और रात में परिणत हो जाता है ।

गति अनेक प्रकार की सृष्टि करती है । कुछ इस सृष्टि के मूल में अग्नि तत्त्व को मानते हैं, कुछ आपः तत्त्व को । यह अग्नि और सोम सृष्टि के माता-पिता हैं । अग्नि तरलता बनाता है, सोम घनता । फलतः पदार्थ तरल और घन दो भागों में बँट जाते हैं । अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य । यज्ञ की प्रक्रिया द्वारा सोम अग्नि में ही परिणत हो जाता है । इसलिये अग्नि को ही एक मात्र पदार्थ मान लिया गया है ।

यह अग्नि वैश्वानर कहलाता है जो पृथ्वी पर अग्नि रूप में, अन्तरिक्ष में वायु रूप में और द्यौ में आदित्य रूप में रहता है । यही वैश्वानर प्रज्ञा रूप में मन, तैजस रूप में प्राण और वैश्वानर रूप में भूत है । मन, प्राण और भूत की यह त्रयी ही आत्मा है । वेद-विज्ञान का यह सिद्धान्त है कि व्यष्टि में जो दिखाई देता है, समष्टि में भी उसके समानान्तर ही व्यवस्था है । व्यष्टि के स्तर पर जिसे हम मन, प्राण और भूत कहते हैं समष्टि के स्तर पर वही द्यौ, अन्तरिक्ष और पृथ्वी है । गति का कारण प्राण है, यह प्राण, मन और वाक् के मध्य में है । यही इन्द्र है, जिसे मध्य प्राण भी कहा जाता है । व्यष्टि के स्तर पर जो प्राज्ञ, तैजस और वैश्वानर है समष्टि के स्तर पर वही सर्वज्ञ विराट् और हिरण्यगर्भ है । हमने ऊपर कहा है कि असीम अव्यक्त है और जो व्यक्त है वह सीमित है । इस सीमित और असीम को दिति-अदिति, मृत्यु-अमृत, अनेक नामों से जानते हैं । मन, प्राण और वाक् की असीम अवस्था क्रमशः वेद-साहस्री, लोक-साहस्री और वाक्-साहस्री कहलाती है ।

लोक का अर्थ है पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ । देव इन तीनों लोकों की शक्ति का नाम है । इन देवताओं के समूह हैं । उदाहरणतः आठ वसु हैं, ग्यारह रुद्र हैं, बारह आदित्य हैं, दो अश्विनी हैं । ये तैत्तिरीय देवता हैं । चौतीसवाँ देवता स्वयं प्रजापति है जो इनका अव्यक्त केन्द्र है । गति में एक लयात्मकता है जिसे छन्द कहा जाता है । यही गति दिक् को उत्पन्न करती है । मन, प्राण और वाक् तीन ज्योतियाँ हैं । इनमें से दो-दो के बीच में एक-एक सोम है । मन और प्राण के बीच का सोम चन्द्रमा है । प्राण तथा वाक् के बीच का सोम दिक् है । चन्द्रमा भास्वर सोम है । दिक् अभास्वर सोम है ।

गति ही ऋतु को जन्म देती है । अग्नि के दो रूप हैं—ऋतु-और सत्य । ऋतु का कोई केन्द्र नहीं होता, सत्य में केन्द्र है । ऋतु ही ऋतु का कारण है । ऋतु ही पदार्थों को अभिव्यक्त करती है । प्राण शक्ति स्तोम के रूप में आपस में जुड़ी रहती है । यदि स्तोम न हो तो सब कुछ बिखर जाय । प्राण शक्ति का नाम ही ऋषि है, जो सदा गतिशील है । इन्द्रियाँ प्राण का साधन हैं ।

सृष्टि के दो पक्ष हैं—देव और भूत । आकाश, वायु और अग्नि देव हैं । जल और पृथ्वी भूत हैं । पृथ्वी स्थूल है, द्यौ सूक्ष्म है और अन्तरिक्ष मध्यस्थ है । जल का सूक्ष्म रूप सोम है, स्थूल रूप पृथ्वी है ।

सात लोकों के बीच में तीन पृथ्वी है, तीन अन्तरिक्ष और तीन द्यौ । जो प्रथम त्रयी का द्यौ है वह द्वितीय त्रयी की पृथ्वी बन जाता है । जो प्रथम त्रयी का द्यौ है वह द्वितीय त्रयी की पृथ्वी

बन जाता है और इस प्रकार सात लोकों से तीन त्रयी बनती है। किसी भी पदार्थ के निर्माण में चार तत्त्व रहते हैं—वेद, यज्ञ, छन्द और दिशा। वेद ज्ञान हैं, छन्द लयात्मकता, दिशा आकाश है और यज्ञ इन तीन सत्त्वों का प्राण द्वारा संयोजन है।

मन केन्द्र में है, प्राण और वाक् परिधि पर है। प्राण देवतत्त्व है, वाक् भूततत्त्व है, प्राण अमृत है, भूत मृत्यु। देव अन्नाद है, भूत अन्न।

अग्नि और सोम के मिश्रण से आत्मा का निर्माण होता है। अग्नि और सोम की एक-एक इकाई के मिलने से अणु बनता है और अणुओं के मिश्रण से रेणु बनता है। सोम तत्त्व ही अग्नि को शक्ति देता है। अग्नि आत्मसात् करके सोम को दो भागों में बाँट देती है—अमृत और मर्त्य। अमृत प्राण है मर्त्य भूत। अग्नि आत्मा है सोम शरीर। ये दोनों शरीर के द्यौ और पृथ्वी हैं। इन दोनों से परे व्यक्त गति है, जो प्रजापति है। शरीर में सोम शक्ति देता है। एक ही शरीर में अग्नि और सोम दोनों हैं, किन्तु दम्पती में पति और पत्नी क्रमशः अग्नि तथा सोम के प्रतीक हैं। भूत मातृतत्त्व है, प्राण पितृ तत्त्व है। प्रजापति नाभि है। वह केन्द्र में अव्यक्त रूप से रहता और अन्तर्यामी कहलाता है। अनन्त के सामने सान्त का परिमाण महत्त्वपूर्ण नहीं है, इसलिये इस सान्त को कभी अंगुष्ठ मात्र कह दिया जाता है, कभी तिल परिमाण कह दिया जाता है। मन, प्राण और भूत क्रमशः ज्ञान, क्रिया और अर्थ के सूचक हैं। हमारे शरीर में भी मन, प्राण और वाक् का प्रतिनिधित्व मस्तक, वक्षस्थल और उदर करता है। हमारे शरीर का समस्त क्रिया कलाप वैश्वानर की ही प्रक्रिया है। यह शरीर तीन रूपों में प्रकट होता है—वनस्पति, पशु और मनुष्य। वैश्वानर ही षोडशी पुरुष है जिसमें पाँच कोष, पाँच भूत, और पाँच प्राण आते हैं तथा सोलहवाँ तत्त्व आत्मा है। वैश्वानर को क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं। रज के साथ दो गुण और जुड़े हैं—सत्त्व और तमस्। सत्त्व देव है, रजस् मनुष्य और तमस् अचेतन पदार्थ है। देव तत्त्व केन्द्र से परिधि की ओर गति को बताते हैं पितर परिधि से केन्द्र की ओर गति को बताते हैं। इन्हीं के ताने बाने से जीवन बनता है।

प्राण और अपान की गति में एक लयात्मकता है। प्राण का सम्बन्ध सूर्य से है, अपान का पृथ्वी से। चौबीस घण्टे में इन दोनों की गति २१६०० है। यही अहोरात्र है। प्राण ही सूत्रात्मा है जो शरीर के अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा और पर्जन्य। इन पाँच देवताओं को परस्पर जोड़ता है। अपनी बहिर्मुख अवस्था में प्राण जागृत रहता है, अन्तर्मुख अवस्था में सुषुप्त। ऋषियों की दृष्टि से अग्नि का सम्बन्ध अङ्गिरस से है, सोम का सम्बन्ध भृगु से। अङ्गिरस की तीन स्थितियाँ हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। भृगु की भी तीन स्थितियाँ हैं—आपः, वायु और सोम। दोनों त्रिकों के मध्य में वायु है। वायु यम है जो मृत्यु और अमृत के बीच का सेतु है। जब वह जीवन देता है तो धर्मराज कहलाता है। जब मृत्यु देता है तो यमराज कहलाता है। यम का दूसरा नाम काल ही है। सृष्टि में सूर्य इस यम का प्रतिनिधित्व कर रहा है। सूर्य की सात किरणें अङ्गिरस के सात पुत्र हैं। सूर्य शीत और उष्ण का सम्बन्ध जोड़ता है। यम के दो रूप हैं—घोर और अघोर। घोर रूप मृत्यु है, अघोर रूप जीवन। इस प्रकार जीवन का मूल सूर्य है। जब अग्नि और सूर्य के बीच पूर्ण सन्तुलन हो जाता है तो आत्मा मुक्त हो जाता है। रजोवाद के अन्तर्गत असत् का अर्थ है—अव्यक्त और सत् का अर्थ है—व्यक्त। दिव्य सृष्टि का अर्थ प्राण सृष्टि है। प्राण और भूत के सम्बन्ध से

सृष्टि चल रही है। मन के भी दो स्तर हैं—निर्णय लेने वाला मन विज्ञान मन है, अनिर्णय की स्थितिवाला मन प्रज्ञान मन है। विज्ञान मन सूर्य के समान स्वयंप्रकाश है। प्रज्ञान मन चन्द्रमा के समान पर प्रकाश है। मन का एक दूसरा नाम महान् भी है क्योंकि यह अव्यक्त की महिमा को प्रकट करता है।

सृष्टि के विश्लेषण में दो तत्त्व मौलिक हैं—ब्रह्म और कर्म—ब्रह्म का अर्थ है—ज्ञान, कर्म का अर्थ है—क्रिया। तीसरा तत्त्व अम्भ है जो न ज्ञान है न क्रिया, किन्तु इन दोनों पदार्थों को परस्पर मिलाता है। तीन तीन तत्त्वों के आधार पर चार मत बन जाते हैं। साध्य युग में सत् और असत् भाव और अभाव के सूचक हैं, लेकिन देव युग में सत् का अर्थ सत्ता और असत् का अर्थ कर्म होता है। इन दोनों के सामञ्जस्य से चार वाद बन जाते हैं—१. जो ब्रह्म, कर्म और अम्भ तीनों को मानता है यह त्रिसत्यवाद है, २. जो ब्रह्म और कर्म दो को मानता है वह द्विसत्यवाद है, ३. जो केवल कर्म को मानता है वह असद्वाद है और ४. जो केवल ब्रह्म को मानता है वह सद्वाद है।

हमारी आँखों से न ज्ञान दिखता है न कर्म। त्रिसत्यवाद के अनुसार ब्रह्म और कर्म को परस्पर समन्वित करने वाला पदार्थ अम्भ है। वही ज्ञान और कर्म का समन्वय करता है। केनोपनिषद् ने नाम और रूप को अम्भ माना है और इन दोनों की विचित्रता को ध्यान में रखते हुये इसे यक्ष कहा है। यही नाम रूप का यक्ष अथवा अम्भ ब्रह्म और कर्म में समन्वय स्थापित करता है। ये दोनों सत्तासिद्ध हैं। किन्तु अम्भ भातिसिद्ध है अर्थात् वह प्रतीति में आता है किन्तु नहीं। उदाहरणतः दिन की सत्ता किसी प्रकाश के स्रोत अर्थात् सूर्य या विद्युत् आदि के कारण रहती है, किन्तु रात्रि के लिये किसी स्रोत की आवश्यकता नहीं किन्तु रात्रि हम सबकी प्रतीति में आती है। इसी प्रकार संख्या, परिणाम, दिक्, आदि पदार्थ भाँति सिद्ध हैं। ये सभी सापेक्ष हैं। इनकी स्वयं कोई सत्ता नहीं है। इन अश्व पदार्थों का नाम एवं रूप ब्रह्म और कर्म से सम्बन्ध स्थापित करता है। ऋग्वेद में इस अश्व को यक्ष कहा गया है।

कुछ विद्वानों के अनुसार अश्व केवल एक माया बल है और कर्म भी एक माया बल ही है। इसीलिये अश्व की कोई आवश्यकता नहीं। कर्म के तीन रूप हैं—प्रवृत्ति, निवृत्ति और स्तम्भन। प्रवृत्ति का अर्थ है अग्र व्यापार जिसको गमन कहते हैं, निवृत्ति का अर्थ है पृष्ठ व्यापार जिसे आगमन कहते हैं। इन दोनों का मिल जाना स्तम्भन अथवा स्थिति है। प्रवृत्ति से प्रवेश होता है, निवृत्ति से निष्कासन और स्तम्भन से स्थिति। सृष्टि की उत्पत्ति के समय कर्म ब्रह्म में प्रविष्ट होता है। विश्व की स्थिति के समय कर्म ब्रह्म में स्थित हो जाता है और प्रलय में निकल जाता है। ये तीनों काम कर्म स्वयं कर लेता है। कर्म संसर्ग है अतः वह स्वयं ही असङ्ग ब्रह्म से समन्वित हो जाता है। इसके लिये किसी तीसरे अश्व पदार्थ के मानने की आवश्यकता नहीं। ऐसा द्विसत्यवादियों का कहना है। ब्रह्म दिक्, देश काल, संख्या आदि से अनवच्छिन्न है, कर्म इन से अवच्छिन्न है। ब्रह्म रस प्रधान है, कर्म बल प्रधान है। बल गर्भित रस का नाम ज्ञान है, रस गर्भित बल का नाम कर्म है।

संसार के सभी पदार्थों में रस और बल दोनों हैं। जिनमें रस प्रधान है वे चेतन कहलाते हैं जिनमें बल प्रधान है वे जड़ कहलाते हैं। जड़ में जब रस का जागरण हो जाता है तो वह भी चेतन हो जाता है। मनुष्य की जागृत अवस्था ब्रह्म भाव है, सुषुप्ति अवस्था कर्म भाव है।

चिन्तकों का एकवर्ग केवल कर्म की ही सत्ता मानता है। उसका कहना है कि कर्म ही स्तम्भन दशा में ब्रह्म हो जाता है। वही कर्म प्रवृत्ति की दशा में समन्वय का कारण बनता हुआ अभ्व कहलाता है और निवृत्ति की दशा में कर्म कहलाता है। कर्म का ही दूसरा नाम बल है। वही सुषुप्ति अवस्था में बल कहलाता है। कुर्वद्रूप अवस्था में प्राण कहलाता है तथा निर्गच्छत्व अवस्था में क्रिया कहलाता है। कर्म की सुषुप्ति अवस्था ब्रह्म है। प्राण अवस्था अभ्व है, और क्रिया अवस्था भी कर्म है। कर्म पर बल देने के कारण वे लोग जो ब्रह्म को नित्य पदार्थ नहीं मानते थे, और अनित्य कर्म को ही स्वीकार करते थे, श्रमण कहलाये। कर्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई। कर्म असत् रूप है इसलिये सृष्टि भी असत् ही है। सृष्टि में कर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। जिसे हम ज्ञान कहते हैं वह भी जानने की क्रिया भी है। क्षण-क्षण में पदार्थ परिवर्तित हो रहे हैं। यह कर्म का ही परिणाम है। अतः प्रत्येक पदार्थ क्षणभङ्गुर है। जो यह मानते हैं कि क्षणभङ्गुर पदार्थों का कोई न कोई नित्य आधार भी है और वह आधार ही ब्रह्म है—ये ब्राह्मण कहलाये। ब्राह्मणों का कहना है कि कर्म एक बल है और बल में एक बल धाराबल भी है। वह धारा बल ही सब बलों को सनातन रूप में अस्तित्व के रूप में प्रदर्शित करता है। उसके लिये किसी नित्य आधार के मानने की आवश्यकता नहीं है। जो ऐसा मानते हैं कि कर्म भले ही बदलता हो किन्तु कर्ता नहीं बदलता, उनके उत्तर में क्षणिकवादियों का कहना है कि कर्ता भी एक प्रकार का बल ही है।

क्रिया की चार अवस्थाएं हैं पहली अवस्था कृति है जो प्राण का आन्तरिक व्यापार है। यह आन्तरिक व्यापार जब बहिर्व्यापार में बदलता है तो व्यापार कहलाने लगता है। यही व्यापार धारा बल के कारण भाव रूप में परिणत होकर पदार्थ बन जाती है और यही भाव पुनः कर्म करता है। इस प्रकार अहम् भी क्रिया समष्टि का नाम ही है। जिस प्रकार दीपक की लौ प्रतिक्षण बदलने पर भी एक रूप में ही दिखाई देती है उसी प्रकार आत्मा प्रति क्षण बदलने पर भी एक ही रूप में दिखाई देती है। आत्मा कर्म से भिन्न कुछ नहीं है। इस क्रिया के कारण उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते रहते हैं। समस्त संसार दुःख रूप है, क्योंकि इसमें शाश्वत कुछ भी नहीं है, सभी अशान्त हैं। यही सिद्धान्त बौद्ध दर्शन का क्षणिकवाद, दुःखवाद तथा शून्यवाद का आधार बना। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक क्रिया केवल एक क्षण रहती है और वही उसका स्वयं लक्षण है।

इसके विपरीत सद्वादियों के अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। वह अपरिणामी और अविनासी है। क्षणभङ्गुर पदार्थ संसार को स्थिर आधार नहीं दे सकते। ज्ञान ही कर्म में परिणत हो रहा है। विश्व में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी है। इन तीनों में मूल ज्ञाता है, ज्ञाता के बिना न ज्ञान है न ज्ञेय। जिस प्रकार केन्द्र से रश्मि मण्डल निकलता है, उसी प्रकार ज्ञाता से भी ज्ञान निकलता है। इस ज्ञान के आधार पर ही ज्ञेय टिका हुआ है। जगत् के दो रूप हैं अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्। ईश्वर का ज्ञेय बहिर्जगत् है हमारा ज्ञेय अन्तर्जगत् है। इसलिये सब कुछ ज्ञान से ही बना है। ज्ञेय ज्ञान का ही आकार विशेष है। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला परिवर्तन ज्ञान का ही रूप

है। जिस प्रकार स्वप्नजगत् में ज्ञान ही ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय बन जाता है उसी प्रकार जगत् में सब कुछ ज्ञान रूप ही है। परिवर्तन भी स्थिर आधार के बिना नहीं हो सकता। जड़ कर्म स्वयं उत्पन्न-लीन नहीं हो सकता है प्रातः काल हमारे उठने की क्रिया ज्ञान के बिना सम्भव नहीं, अकर्म को कर्म का आधार चाहिये। अतः कर्म प्रपञ्च असत्य है।

व्योमवाद

सृष्टि के सम्बन्ध में एक मत यह है कि भूत भौतिक पदार्थ आकाशगुणक शब्दतन्मात्रा का परिणाम है। अतः सबका मूल आकाश है। निरन्तर एक शब्द के उच्चारण से शब्द पिण्ड में परिणत हो जाता है। जहाँ कोई शब्द सुनाई नहीं देता है वहाँ भी नाद रूप शब्द है। रूप आकाश से बनता है और नाम शब्द से। अतः नाम-रूपात्मक जगत् शब्दात्मक आकाश का ही परिणाम है।

वेद में परम-व्योम और भूताकाश में अन्तर किया गया है। परम व्योम अमृत है। इसमें सहस्राक्षरा वाक् रहती है। इसे अक्षर कहा जाता है। नाद के रूप में बोली गयी हमारी वाक् भूताकाश में रहती है। परम व्योम में रहने वाली सूक्ष्मवाक् स्वयं ब्रह्म है।

प्रसिद्ध है कि कारण सूक्ष्म होता है कार्य स्थूल होता है। सृष्टि पञ्चभूतों से बनी है। उनमें आकाश ही सूक्ष्मतम है। अतः आकाश ही सृष्टि का कारण होना चाहिये—परमे व्योमन् आधारयद्रोदसी सुदंसाः। ऋक् सं. १/६२/७।

आकाश का एक पर्यायवाची शून्य है। शून्य का अर्थ है, जिसमें श्वन् है। श्वन् इन्द्र का नाम है—शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्। (ऋग्वेद ३.३०.२२) इन्द्र ऊर्जा है—या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्मैव तत् (निरुक्त ७.१००.२) अभिप्राय यह है कि आकाश में ऊर्जा परिपूर्ण है। यह ऊर्जा ही नाना रूप धारण करती है—रूपं रूपं मघवा बोभवीति (ऋग्वेद ३.५३.८) तथा इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (ऋग्वेद ६.४७.१८)। अभिप्राय यह है कि आकाश में व्याप्त ऊर्जा ही विश्व को जन्म देती है।

सभी अवयवी सान्त आकाश के अवयव नहीं हैं। अतः आकाश अनादि है। दाल्भ्य चैकित्सायन का मत है कि द्यौ अन्तिम कारण है। शालावत्य शिलक का मत है कि पृथ्वी अन्तिम कारण है। किन्तु प्रवाहण जैवलि का मत है कि आकाश और पृथ्वी दोनों ही अवयवी हैं, इसलिए आकाश ही अन्तिम कारण है। प्रवाहण जैवलि का कहना है कि आकाश सूक्ष्मतम है। अतः वही कारण हो सकता है, क्योंकि कारण सदा कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। दूसरा कारण यह है कि आकाश अनादि है। अतः उसका कोई कारण नहीं। इसलिए उसे ही मूल कारण मानना चाहिए। तीसरा कारण यह है कि सर्वत्र द्वैत है, किन्तु आकाश में कोई द्वैत नहीं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि आकाश ही सबका मूल कारण है।

आकाश एक रूप है। इसमें अनेकता वायु की गति के कारण होती है। प्रथम द्वैत रस और अमृत का है। रस गतिशील है, अमृत स्थित है। रस के भी दो रूप हैं—ज्योति और आपः। ज्योति और आपः सान्त है, मर्त्य हैं। वे आकाश से ही उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन हो जाते

हैं। दूसरी ओर नाम और रूप अमृत में टिके हैं। ज्योति ऋक्, यजुः और साम है। नाम, रूप और क्रिया की समष्टि आपः है। इन्हें वैदिक भाषा में अभ्व कहा जाता है। अभ्व का अर्थ है पहले नहीं है, मध्य में है और अन्त में भी नहीं; जो निरात्मक होते हुए भी ऐसा लगे मानों आत्मा से अन्वित है। जिस प्रकार घड़ा मिट्टी से उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है, उत्पन्न होने से पहले और बाद में नहीं रहता है। उसी प्रकार अभ्व का स्वरूप समझना चाहिये। जिस प्रकार मधु स्वयं अमृत है उसमें तुल्य मात्रा में घृत मिला देने से विष उत्पन्न होता है। यह विष पहले नहीं था किन्तु अब वह है। अब वह मिथ्या नहीं है, प्रत्युत ब्रह्म रूप है। शतपथ ब्राह्मण का कहना है कि नाम और रूप दो बड़े अभ्व हैं। ये दोनों यक्ष हैं अर्थात् इन्हें समझा नहीं जा सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में दो बड़े अभ्व हैं। ये दोनों यक्ष हैं अर्थात् इन्हें समझा नहीं जा सकता। तैत्तिरीय ब्राह्मण में नाम और रूप को प्रजापति बताया है—रूपं वै प्रजापतिः, नाम वै प्रजापतिः। (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.७.१) स्पष्ट है कि ये दोनों मिथ्या नहीं हैं। अपने शब्द गुण द्वारा आकाश नाम का मूल स्रोत है और सभी पदार्थों को अवकाश प्रदान करने के कारण आकाश सभी रूपों का भी मूल स्रोत है। आकाश में जो अन्तराल है, वही एक रूप को दूसरे रूप से भिन्न करता है। इस प्रकार आकाश ही सृष्टि का मूल कारण है।

आकाश नाम और रूप से रहित है। भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् ये सात लोक आकाश में है। इनमें प्रथम पाँच मर्त्य हैं। अन्त के दो अमृत हैं। आकाश में पञ्चभूत मर्त्य हैं प्राण और प्रज्ञा दो अमृत हैं। रूपवान् भू लोक है। द्रव भुवः है—ऊर्ध्व सञ्चारी स्वः है। तिर्यक्प्रसार करने वाला महः है। अदृश्य वायु है। अचर जन है। जहाँ भूत मात्रा नहीं है वह तपो लोक है। जहाँ प्रज्ञा है, वह सत्य है। सत्य से परे कुछ नहीं है। इन सात लोकों को दूसरे प्रकार से भी कहा गया है १-पञ्चभूत भू है २-चतुर्भूतात्मक भुवः है ३-तेजोमय वायु है। ४-शब्दमय महः है ५-भूतानुशय जनः है। ६-गन्धहीन तपः है। ७-प्रज्ञायुक्त सत्य है। इन सात में पहले पाँच लोक मर्त्य हैं। इनमें क्रमशः पाँच तत्त्व हैं। भू में पाँचों तत्त्व हैं और जनः में केवल एक है। यह क्रम इस प्रकार है—

- भूः — पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश।
 भुवः — जल, अग्नि, वायु, आकाश
 स्वः — अग्नि, वायु, आकाश
 महः — वायु, आकाश
 जनः — आकाश

तपोलोक प्राणमय तथा सत्यलोक प्रज्ञामय है। ये दोनों आकाशातीत हैं। इस प्रकार आकाश से ही पदार्थ उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन हो जाते हैं।

उपाधि के कारण अखण्ड होते हुए भी आकाश खण्डित प्रतीत होता है। आकाश के ये खण्ड आन्द या अण्ड कहलाते हैं। क्योंकि ये अण्डाकार होते हैं आइन्स्टीन के अनुसार पदार्थों का आकर्षण क्षेत्र आकाश को अण्डाकार बना देता है। इस कारण आकाश तीन प्रकार का है—सबसे छोटा भाग दहर कहलाता है, सबसे बड़ा भाग उत्तर कहलाता है और बीच का भाग अन्तर कहलाता

है। हमारा हृदय दहराकाश है। शरीर अन्तराकाश है और जहाँ तक हमारी दृष्टि जाती है वह उत्तराकाश है। इसी प्रकार पृथ्वी का केन्द्र दंहराकाश है, पृथ्वी अन्तराकाश है और पृथ्वी का तेजोमण्डल उत्तराकाश है। ये तीनों महापुराण-आकाश में स्थित हैं। यही भूमा है यही सुख है—*भूमा वै सुखम्*।

श्रुति का कहना है कि सब देवता परमव्योम में प्रतिष्ठित हैं। शब्द आकाश का गुण है, आकाश से ही सृष्टि हुई। शब्द का ही विवर्त पदार्थ है। इस प्रकार आम्भूणीसूक्त भी व्योमवाद का ही प्रतिपादन करता है। जिस प्रकार आकाश सूक्ष्म और स्थूल है उसी प्रकार वाणी भी सूक्ष्म और स्थूल है। परमव्योम में रहने वाली सूक्ष्म वाक् अमर है। भूत आकाश में रहने वाली वैखरीवाणी मरणधर्मा है।

शब्द ही वेद के रूप में विश्व को उत्पन्न करता है। व्योम ही परम गति है। व्योम में ही समुद्र टिका है, उस समुद्र में सूर्य है तथा सूर्य के अहर्मण्डल में पृथ्वी है, अथवा पृथ्वी जल में है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु व्योम में। इस प्रकार व्योम ही सबका आधार है। नाम, रूप और कर्म का नाम वस्तु है। नाम वाक् रूप है। वह आकाश में है। रूप भी व्यवच्छेद रूप है। वह भी व्योम के बिना नहीं हो सकता। कर्म का आधार ही व्योम है। इसलिये व्योम ही परम गति है।

द्वौ पृथ्वी पिण्डरूप है, अतः नित्य नहीं है। नित्य तो व्योम ही है। आकाश विभु है। उसका कोई कारण नहीं। उसका न जन्म होता है न मृत्यु, न उसका अन्त है न आदि, न उसका कोई आधार है। वह स्वयं ही अपना आधार है। सभी पदार्थ सविशेष हैं। आकाश निर्विशेष है। अतः आकाश ही उनका मूल है। आकाश से रस और ज्योति प्रवृत्त होते हैं। रस स्पन्दमान है, अमृत निष्पन्द है। अमृत में ही मर्त्य टिके हैं। स्वयं आकाश चेष्टारहित है। उसी में सब चेष्टाएं स्थित हैं। सब ज्योति द्वौ रूप है। सब जल पृथ्वी रूप है।

व्योमवाद बहुत सीमा तक विश्व की पहेली को सुलझाने में हमारी सहायता करता है। किन्तु चेतना आकाश से परे है और इस दृष्टि से व्योमवाद के अन्तर्गत जड़ पदार्थों की उत्पत्ति का रहस्य तो एक सीमा तक सुलझ सकता है किन्तु चेतना की उत्पत्ति रहस्य ही बनी रहती है। इसलिए व्योमवाद भी अन्य वादों की तरह ब्रह्मवाद के बिना अधूरा ही है।

व्योमवाद के अन्तर्गत वैदिक चिन्तन के कुछ महत्त्वपूर्ण चिन्तन उभर आते हैं—

१. आकाश खाली जगह का नाम नहीं है। उसमें सर्वत्र ऊर्जा व्याप्त है।
२. आकाश सपाट न होकर अण्डाकार है।
३. शब्द आकाश का गुण है।

वेद विज्ञान की मान्यताओं पर आधुनिक विज्ञान को ऊहापोह करना चाहिये। व्योमवाद के अन्तर्गत यह विषय ही चिन्तनीय है कि पदार्थों का मूल परमाणु को न मानकर आकाश को माना गया है। यूनानी दार्शनिक जल, वायु अथवा अग्नि को तो सृष्टि का मूल मानते थे, किन्तु आकाश को सृष्टि का मूल मानने का सिद्धान्त भारतीयों की ही देन है। इसका कारण यह है कि भारतीय आकाश को यूनानियों के समान खाली स्थान नहीं मानते हैं। अपितु ऊर्जा से परिपूर्ण मानते थे।

अपरवाद

नासदीय सूक्त में इस वाद का उल्लेख शब्दशः नहीं है। वेद का पाठ है—*व्योमा परो यत्* यहाँ 'पर' शब्द है 'अपर' नहीं। इस 'पर' का भी सम्बन्ध व्योम से है। यह स्वतन्त्र शब्द के रूप में नहीं है, इसलिए डॉ. वासुदेवशरणअग्रवाल ने इस वाद का नाम अपरवाद न देकर परापरवाद दिया है।

पर का अर्थ है पुरुष, अपर का अर्थ है प्रकृति। इस मत के अनुसार सृष्टि का मूल सृष्टि में ही खोजा जा सकता है। विविध गुणों और कर्मों से युक्त पदार्थ पारस्परिक सहयोग से सृष्टि को जन्म देता है। पानी का सहयोग पाकर मिट्टी औषधि बन जाती है और वही औषधि शुष्क नीरस वायु का संयोग पाकर पुनः मिट्टी बन जाती है। इस प्रकार पदार्थ ही संयोग और वियोग से सृष्टि की उत्पत्ति कर लेते हैं। समस्त पदार्थ भूत ही हैं। अतः भूत से बाहर सृष्टि का मूल खोजना व्यर्थ है।

विश्वोत्तीर्ण पर है विश्वात्मक अपर है। पर को परस्तात् कहा है। अपर को अवस्तात् कहा है। इसका मत का सङ्केत ऋग्वेद में मिलता है—*यथा न पूर्वमपरो जहाति* (ऋग्वेद १०, १८, ५)। अपरवाद का दूसरा नाम स्वभाववाद भी है। वस्तुतः अपरवाद के पाँच रूप हैं—१. लोकायतवाद, २. परिणामवाद, ३. यदृच्छावाद, ४. नियतिवाद तथा ५. प्रकृतिवाद। अतः नीचे हम इन्हीं पाँच शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन करेंगे—

लोकायत मत

लोकायत मत है कि यह सृष्टि वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी से बनी दृष्टिगोचर होती है। अतः ये भूत इसके कारण हैं। इन्हीं से चेतना उत्पन्न हो जाती है, मरणान्तर में कुछ शेष नहीं रहता। ब्रह्मस्मृति तथा उनके शिष्य चार्वाक इस मत के समर्थक थे। दशवादरहस्य ग्रन्थ में वाक् सूक्त को उद्धृत करने का प्रयोजन इसी लोकायत मत का समर्थन है क्योंकि वेद में वाक् भूत का पर्यायवाची है।

परिणामवाद

भौतिक पदार्थों में स्वभावतः भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं, जिनके कारण यह विविध प्रकार की सृष्टि बन जाती है। पराशर का मत था कि इन विविध परिणामों का स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं। वह पुरुषार्थवाद का विरोधी था।

यदृच्छावाद

यदृच्छावाद के अनुसार सब कुछ आकस्मिक है। उसका कारण ढूँढना व्यर्थ है। हम दो चीजों को बारम्बार साथ देखने से कार्यकारण की कल्पना कर लेते हैं। मिट्टी से पानी बन जाता है, पानी से मिट्टी। ऐसी स्थिति में किसे कारण कहें किसे कार्य? सुख-दुःख अकारण काकतालीय न्याय से प्राप्त होते रहते हैं। बादलों का घिर आना, आँधी का चलना आदि सभी कुछ तो अकस्मात् ही होता रहता है। अतः कारण की खोज का कोई अर्थ नहीं है।

नियतिवाद

नियतिवादी पूरण काश्यप आदि का कहना है कि यदृच्छावाद ठीक नहीं है। तिल आदि नियत पदार्थों से ही तेल आदि नियत पदार्थों की उत्पत्ति इस बात की सूचक है कि सब कुछ नियत है। सृष्टि का कारण कुछ भी हो वह नियति के अनुसार ही कार्य को जन्म दे सकता है, अतः नियति ही मुख्य है।

प्रकृतिवाद

आसुरि तथा पञ्चशिख प्रकृतिवादी साङ्ख्यमतानुयायी हैं। उनके अनुसार पुरुष तथा गुणों का अयुतसिद्ध सम्बन्ध है। कर्तृत्व गुणविशिष्ट पुरुष में होता है। वस्तुतः कर्तृत्व प्रकृति में ही है, पुरुष में नहीं। अहङ्कारवश पुरुष अपने में कर्तृत्व मान लेता है। गुणों में सम्मिश्रण करता है, स्वभाव परिणामन करता है, तथा कर्म सृष्टि करता है। ये काल, स्वभाव तथा कर्म त्रिगुणात्मक प्रकृति के हैं, पुरुष के नहीं। इन गुणों में सत्त्व पुरुष के निकटतम है। सत्त्वगुण स्थिति का हेतु है, रजस् प्रवृत्ति का तथा तमस् निवृत्ति का। जब तक ये गुण साम्यावस्था में रहते हैं, प्रकृति कहलाते हैं, विषमता को प्राप्त होने पर ये ही गुण महत् कहलाने लगते हैं। महत् से अहङ्कार उत्पन्न होता है, जिसके तीन भाग हैं—द्रव्य, क्रिया तथा ज्ञान। द्रव्य पदार्थ है, क्रिया बल तथा ज्ञान प्रज्ञा है। सत्त्व द्रष्टा है, तमस् दृश्य। रजस् इन दोनों को जोड़ने वाला सूत्र है। अहङ्कार से त्रिविध सृष्टि होती है—रजोगुण से इन्द्रिय, अथवा तेज, अथवा प्राण, तमोगुण से भूत तथा सत्त्व से देवसृष्टि। भूतसर्ग है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। इन्द्रियसर्ग है—वाक्, कर, पाद, उपस्थ, वायु, श्रोत्र, प्राण, जिह्वा, दृक् तथा त्वचा। इनमें प्रथम पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, अन्तिम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। दिक् श्रुति का, वायु त्वचा का, रवि दृष्टि का, विष्णु पाद का, प्रजापति उपस्थ का तथा मित्र वायु का देवता है। विकल्प से प्रचेता के स्थान पर वरुण, अश्विनी के स्थान पर पृथ्वी, अग्नि के स्थान पर बृहस्पति तथा दिक् के स्थान पर व्योम को रखा जाता है। अन्य मतानुसार भूत पाँच हैं, तो ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच ही हैं तथा उनके देवता भी अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र तथा दिशा-ये पाँच ही हैं। द्रव्य से उत्पन्न शक्तियुक्त भूत है, ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति से युक्त इन्द्रियाँ हैं। शरीर की लोमत्वगादि में कुमारगिण काम कार्य कर रही हैं, इन्द्रियाँ में तैजस देवता। कौमार सर्ग मर्त्य है, तैजस अमृत। अधिप्रज्ञा से ५ देव, अधिप्राण से ५ इन्द्रियाँ तथा अधिभूत से पञ्चतन्मात्रायें होती हैं। पञ्चतन्मात्राओं में क्रमशः एक एक की वृद्धि से पंच महाभूत बनते हैं। शब्द से आकाश; शब्द तथा स्पर्श से वायु; शब्द, स्पर्श तथा रूप से अग्नि; शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस से जल एवं शब्द, स्पर्श रूप, रस तथा गन्ध से पृथ्वी होती है।

सर्ग नौ हैं—महान्, अहङ्कार, तन्मात्र, ऐन्द्रियक, वैकारिक, महाभूत, मुख्य, तिर्यक् तथा सुकृत। इनमें मुख्य का अर्थ है स्थावर, जो छः हैं—तृण, गुल्म, वीरुत्, (पृथ्वी पर फैलने वाली), लता (पेड़ों पर चढ़ने वाली), औषधि (फलपाक के साथ ही समाप्त हो जाने वाली) तथा वनस्पति (पुष्प सहित) तिर्यक् एक शफवाले, दो शफवाले, पञ्चनख तथा पंखों वाले—इस प्रकार चार हैं। सुकृत मनुष्य हैं।

सृष्टि का सञ्चरक्रम यह है—प्रकृति से महान्, महान् से अहङ्कार, अहङ्कार से मात्रा तथा मात्रा से अनुग्रह सर्ग उत्पन्न होता है। अनुग्रहसर्ग से धातुसर्ग होता है। धातुसर्ग का अर्थ है शरीर-घटक त्वक् रुधिरादि। प्रतिसञ्चार अर्थात् प्रलय का क्रम इसके विपरीत है।

वाक् तथा अपरवाद

आम्भृणी सूक्त भी अपरवाद का ही प्रतिपादन करता है। इस सूक्त में कहा गया है कि वाक् ही जगत् को उत्पन्न करती है। वाक् अपरव्योम से जुड़ी है क्योंकि अपरव्योम ही निरुक्त है, परव्योम तो अनिरुक्त है। अपरव्योम से जुड़ा होने के कारण वाक् सिद्धान्त भी अपरवाद में ही समाविष्ट हो गया।

अपरवाद के उपर्युक्त सभी प्रकार सृष्टि के मूल, सृष्टि के भीतर ही खोज रहे हैं। किसी पर (अव्यय) पुरुष में नहीं, अतः यह सभी अपरवाद में ही समाविष्ट है।

आवरणवाद

पाँचवा मत आवरणवाद का है। आवरण का अर्थ है पदार्थ का बाह्य रूप। वस्तुतः जितने पदार्थ हैं वे कोई न कोई आकार धारण किये हुए हैं। सजातीय कारण से ही सजातीय कार्य उत्पन्न होता है। अतः इस आवरण रूप सृष्टि का आवरण ही कारण होना चाहिये। वेद में इस आवरण को वयुन कहा गया है। इसे छन्द भी कहते हैं। वयुन आवरण है। उस आवरण से ढका हुआ पदार्थ वयोनाथ है। तथा उस पदार्थ में रहने वाला प्राण वय है। इसीलिये वय का अर्थ आयु होता है प्रत्येक पदार्थ के छन्द का आकार प्राण के कारण होता है। यह प्राण ही वयोनाथ है। पदार्थ तमोगुण प्रधान है इसलिये इस मत के मानने वाले तमोगुण को ही सृष्टि का मूल कारण मानते हैं—*तम आसीत्तमसा गूढमग्रे। ऋक् सं. १०/१२९/३।* मनु ने इस सिद्धान्त का इन शब्दों में परिचय दिया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।

अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (मनुस्मृति २.५.१)

ऋग्वेद में कहा गया है कि विश्व की प्रमा क्या है और प्रतिमा क्या है? प्रमा नाम प्रमाण का है, प्रतिमा आदर्श अथवा मॉडल है। प्रतिमा के अनुसार प्रमाण को ध्यान में रखकर सृजन किया जाता है। इसी प्रक्रिया को वेद में विमान कहा गया है। प्रमा के अनुसार पदार्थ की लघुता गुरुता निश्चित की जाती है। यह प्रमा ही वेदान्त में माया कही गयी है।

पदार्थ के परिमाण को आवरण निश्चित करता है। आवरण ही पदार्थ के स्वरूप को बनाता है। आकाश एक महा आवरण है। उसमें छोटे-छोटे आवरण पदार्थों के हैं। वेद में आवरण का नाम शर्म है। शर्म चर्म का ही दूसरा नाम है। भूतजगत् में चर्म शब्द का प्रयोग होता है, प्राण सृष्टि या देव सृष्टि में शर्म शब्द का प्रयोग होता है। यज्ञ में कृष्ण-मृग का जो चर्म पहना जाता है, वह शर्म का प्रतीक है। प्राण वयः है। वस्तु वयुन है। परिच्छेद वयोनाथ है। वयः और वयोनाथ मिलकर वस्तु को जन्म देते हैं। वस्तु का भार वय से निर्धारित होता है। उसकी सीमा वयोनाथ

से निर्धारित होती है। यह दोनों मिलकर वस्तु का स्वरूप बनाते हैं। इनमें वयोनाथ ही छन्द है। यही आवरण कहलाता है। छन्द पदार्थ की सीमा बाँधता है। छन्द भी एक प्राण ही है। प्राण ही वयः है, प्राण ही वयोनाथ है। इस प्रकार प्राण ही प्राण को आच्छादित किये हैं। प्राण का एक नाम गोपा है क्योंकि यह सबका गोपन करता है। प्राण कभी विश्राम नहीं करता। यही विश्व में व्याप्त है।

भूत छन्द से आच्छादित है। छन्द अथवा आच्छादन दो प्रकार का है—धर्मकृत तथा सीमाकृत। धर्म अथवा सीमा के बदलने से वस्तु बदल जाती है। वस्तु परिच्छिन्न होकर ही प्रतीति में आती है। छन्द ही वस्तु को परिच्छिन्न करते हैं। अतः छन्द ही सबका कारण है।

अम्भोवाद

एक मत यह है कि जगत् का मूल कारण आपः है। आपः के अनेक नाम हैं—सलिल, समुद्र, सोम, ऋतम्, अर्णव। अर्णव से सूर्य होता है, सूर्य से अग्नि होती है। इस प्रकार जल से ही अग्नि होती है—अग्निर्हि न प्रथमजा ऋतस्य (ऋग्वेद १०.५.७)।

यदि हम अपने शरीर को देखें तो भी और पृथ्वी को देखें तो भी जल की मात्रा सर्वाधिक है। इसलिये सृष्टि का मूल तत्त्व जल है। इस सिद्धान्त का शास्त्रों में बहुत विस्तार है। प्रमाण के रूप में अनेक पङ्क्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं—प्र सु व आपो महिमानमुत्तम। ऋक् सं. १०/७५/१ अन्यदपि ऋक् सं. ६/५०/७, १/११०/१ शत.ब्रा. ११/१/६/१, १/१/१/१४, ६/१/१/८, १०/५/४/१५, १०/५/४/१४, ४/५/२/१४।

लोक का निर्माण अप तत्त्व से होता है। वायु के प्रवेश से जल ही मिट्टी का रूप धारण कर लेता है। अन्तरिक्ष में भी जल ही है और चन्द्रमा सोम का रूप है। सोम भी जल का विरल रूप ही है। स्वयं सूर्य भी मरीचि जल से बना है। हमारा शरीर शुक्र और शोणित से बना है। जहाँ तक भूतात्मा का प्रश्न है। भूतात्मा अन्न रस-मय है। अन्न पानी का रूपान्तर है। इस प्रकार भूतात्मा भी जल से ही बना है।

सूर्य जल में ही टिका है। जल का अर्थ है शक्ति का समान वितरण। यह भृगु और अङ्गिरा प्राणों का समन्वय है। भृगु और अङ्गिरा के बीच ही त्रयी प्रतिष्ठित है। साम्य अवस्था आपः है। गति से सृष्टि होती है। ऋक् व्यास है। साम परिधि है। यजुः व्याप्त वस्तुतत्त्व है। परिधि से केन्द्र के प्रति गति आगति है। इसे भृगु प्राण कहते हैं। केन्द्र से परिधि के प्रति गति अङ्गिरा प्राण है। ये दोनों ही केन्द्र को व्यास और साम से जोड़ते हैं। इसलिये गोपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि ऋक्, यजु और साम की त्रयी भृगु और अङ्गिरा में ही स्थित है।

भूमि को खोदें तो जल मिलता है। आकाश से भी जल ही बरसता है। इसलिये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पहले सर्वत्र जल ही था। जल से सत्य उत्पन्न हुआ। सत्य ही ब्रह्म है। ब्रह्म ही प्रजापति है। प्रजापति देवताओं को जन्म देता है। देवता सत्य की उपासना करते हैं। जल की तीन प्रकार की गति है—तिर्यग् गति, ऊर्ध्वगति और अधोगति। ऊर्ध्वगति से तनुता उत्पन्न होती है। अधोगति से घनता उत्पन्न होती है। तिर्यग् गति से न तनुता उत्पन्न होती है न

घनता। तनुता के क्रम में अग्नि से वायु, वायु से वाक्, वाक् से प्राण और प्राण से मन की उत्पत्ति होती है। घनता से वृक्ष के शरीर की उत्पत्ति होती है। घन द्रव बन कर तनु हो जाता है। तनु द्रव बन कर घन हो जाता है। यह चक्र चलता रहता है। इस चक्र का आलम्बन जल ही है। जल का सम्बन्ध परमेष्ठी लोक से है। परमेष्ठी से पूर्व स्वयम्भू की सृष्टि प्राणसृष्टि है। वह मानसी है। प्रथम मैथुनी सृष्टि याज्ञिक आपोमय परमेष्ठी से होती है। अतः सृष्टि जल से हुई। उल्लेखनीय है कि जड़ के सन्दर्भ में जो घन है चेतना के क्षेत्र में वही प्रेम है तथा जड़ की भाषा में हम जिसे तनुता कहते हैं चेतना की भाषा में वही विद्वेष है। प्राण सृष्टि मानसी है। इसमें संसर्ग का भाव नहीं है इसलिये इसमें ग्रन्थि बन्ध भी नहीं है। मन के बिना प्राण और वाक् नहीं हो सकते। मन की इच्छा से आकाश में रहने वाले वायु में क्षोभ उत्पन्न होता है। इस क्षोभ के घर्षण से ही आपः की उत्पत्ति होती है। इसलिये कहा जाता है—*अग्नेरापः* और इसलिये आपः को सर्वप्रथम सृष्टि माना है—*अप एव ससर्जादौ*।

उपनिषद् के अनुसार प्रथम सृष्टि असत् थी। असत् का अर्थ है ऋषि और ऋषि का अर्थ है प्राण। सृष्टि का अर्थ संसर्ग भाव है। प्राण असङ्ग है अतः प्राण मानसी सृष्टि है। स्वयम्भू मण्डल में प्राण है। यह प्राण ब्रह्मनिश्चसित वेद है। इसमें ऋक्, यजु, साम है। यजु के दो भाग हैं यत् और जू। यत् प्राण है जू वाक् है। वाक् आकाश है प्राण वायु है। यह प्राण और वाक् मन सहित है। मन की इच्छा से आकाश में रहने वाली वायु में क्षोभ उत्पन्न होता है। उस क्षोभ के कारण वायु में घर्षण होने से प्राणाग्नि से जल उत्पन्न होता है। दुःख या प्रेम में शरीर में अग्नि अधिक होने पर असुर उत्पन्न हो जाता है। ऊष्मा के अधिक बढ़ने पर वर्षा होने लगती है। अभिप्राय यह है कि अग्नि से आपः की उत्पत्ति होती है। प्राण असङ्ग था। पानी के उत्पन्न होते ही उसमें संसर्ग उत्पन्न हुआ। इस जल के गर्भ में ही सूर्य का जन्म होता है। सूर्य इस आपोमय मण्डल से नीचे है। यह आपोमय मण्डल परमेष्ठी कहलाता है।

परमेष्ठी में स्नेह तत्त्व भृगु है और तैजस तत्त्व अङ्गिरा है। भृगु सोम है, अङ्गिरा अग्नि है। तेजोमूर्ति अङ्गिरा का ही विरल रूप सूर्य है और 'अद्भ्यः पृथ्वी' के अनुसार पृथ्वी भी आपोमयी है। भृगु और अङ्गिरा दोनों आपोमय हैं ही। अङ्गिरा के तीन तत्त्वों में अग्नि से वाक्, वायु से प्राण और आदित्य से चक्षु का विकास होता है। भृगु के विरल रूप सोम के दो भेद हैं भास्वर सोम तथा दिक् सोम। भास्वर सोम मन और प्राण के मध्य है जो चन्द्रमा के रूप में है, जो स्वयं दिव्य मन से उत्पन्न हुआ है। दिक् सोम प्राण और वाक् के बीच है जो चार दिग् बिन्दुओं के मध्य घिरा हुआ आकाश है, जिसे मण्डल भी कहा जाता है। दिक् सोम से श्रोत्र तथा भास्वर सोम से इन्द्रिय मन निष्पन्न होता है। अग्नि में सोम की आहुति होना यज्ञ है। भृगु और अङ्गिरा का प्रादुर्भाव परमेष्ठी से है। इसलिये परमेष्ठी ही यज्ञ के प्रवर्तक हैं। यह यज्ञ आप रूप है।—यज्ञो वा आपः। स्थूल जल परमेष्ठी के अम्भः नामक वायु और पवमान के रासायनिक मिश्रण से उत्पन्न होता है। पानी को ऋत कहा जाता है—*ऋतमेव परमेष्ठी*।

पानी सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। पानी का अर्थ ऋत् तत्त्व है। इसके दो रूप हैं—भृगु और अङ्गिरा। भृगु की तीन अवस्थाएँ हैं—आपः, वायु और सोम। इस अम्भ का उत्पत्ति स्थान परमेष्ठी

है। परमेष्ठी का सबसे अधिक मात्रा गङ्गा में है इसलिये गङ्गा को विष्णु के चरणों से उत्पन्न माना जाता है। अम्भः ऋत समुद्र है। रसमय होने के कारण इसे सरस्वान् कहा जाता है। सरस्वान् परमेष्ठी मण्डल है। परमेष्ठी मण्डल की वाक् सरस्वती कहलाती है। इस ऋत से ही सत्य भी उत्पन्न होता है क्योंकि सत्य सदा ऋत से ढका रहता है। पिण्ड के चारों ओर रिक्त स्थान रहता है। इस रिक्त स्थान में भृगु के तीनों रूप आपः, वायु और सोम रहते हैं। ये तीनों ही भृगु रूप हैं। रिक्त स्थान में ऋत रूप वायु भरा है। इसलिये सब कुछ ऋत पर ही आश्रित है।

ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किञ्चन।

ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता ॥

—गोपथ ब्राह्मण

पृथ्वी पिण्ड के चारों ओर भू वायु है। इसे एमूषवराह कहा जाता है। प्रत्येक पिण्ड के चारों ओर वायु का जो स्तर रहता है, वह भृगु वायु है। उसे शिव वायु भी कहते हैं।

प्रजापति के चार मुख हैं—प्राण, आपः, वाक् और अन्नाद। इन चारों मुखों में दूसरा मुख आपोमुख है, उसी से लोक सृष्टि होती है। अतः आपः सातों लोकों में व्याप्त है। शरीर का निर्माण भी शुक्र से होता है। शुक्र जल रूप ही है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह बताया गया है कि पाँचवीं आहुति में पानी पुरुष कहलाने लगता है—पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति। ये पांच आहुतियाँ हैं—द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और योषा। इन अग्नियों में पानी को श्रद्धा कहा गया है। शरीर में भी पानी का भाग अधिक है। पृथ्वी पर भी तीन भाग पानी और एक भाग पृथ्वी है। आपः का अर्थ ही सर्वव्यापक है।

सोऽपोऽसजत-वाच एव लोकात्। वागेवास्य सा-असृज्यत। सा-इदं सर्वमाप्नोत्

यदिदं किञ्च। यदाप्नोत-तस्मादापः। यदवृणोत-तस्मात्-वाः (वारिः) (शतपथ ६/१/१/७९)

महाभारत में भी 'सर्वमापोमयं जगत्' कहा गया है।

जल का देवता वरुण है। प्रकाश का अधिष्ठाता इन्द्र है। ताप का देवता अग्नि है। सूर्य का सम्बन्ध अग्नि और इन्द्र दोनों से है। इसलिये उसमें ताप और प्रकाश दोनों हैं। वरुण का इनसे विरोध है, इसलिये जहाँ वरुण होता है, वहाँ ताम्र और प्रकाश नहीं होता।

स्त्री और पुरुष के सन्दर्भ में पानी योषा है, अग्नि वृषा है। योषा स्त्री है, वृषा पुरुष है। स्त्री और पुरुष में रहने वाले प्राण का नाम ही योषा और वृषा है। यदि यह प्राण न हो तो सन्तान उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसके विपरीत योषा, वृषा प्राण परस्पर मिल जायें तो स्त्री पुरुष से मिले बिना भी सन्तान को जन्म दे सकती है। यदि योषा वृषा प्राणको मिलाने की प्रक्रिया जान ली जाये तो नई सृष्टि बनाई जा सकती है। विश्वामित्र ने इसी आधार पर त्रिशङ्कु के लिये नई सृष्टि का निर्माण करने की बात उठाई थी। शास्त्रों में आपः लोक का नाम देव लोक है। यह आपः सोम है और अमृत रूप है—अमृतः ह्यापः (ताण्ड्य ब्राह्मण १, ६, ६, ३) जिस प्रकार भृगु के तीन अङ्ग हैं, अङ्गिरा के भी तीन अङ्ग हैं—अग्नि, वायु और आदित्य। इन तीनों में भी आपः ही व्यापक है। अम्भोवाद के अनुसार समस्त सृष्टि जल से उत्पन्न हुई—आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास। यह आपः ही

सलिल रूप में परिणत होता है। यह सलिल रूप ऋत रूप है। यह ऋत भृगु और अङ्गिरा की समष्टि है। भृगु घन, तरल, विरल तीन रूप हैं आप; वायु और सोम। अङ्गिरा के भी तीन रूप हैं अग्नि, यम और आदित्य। आप; वायु और सोम ऋत रहते हैं। अग्नि, यम और आदित्य सत्य का रूप धारण कर लेते हैं। किन्तु अङ्गिरा का कुछ रूप ऋत रहता है कुछ रूप ही सत्य बन पाता है। आपोमय समुद्र में अंगिरा अग्नि परमाणु रूप में सर्वत्र व्याप्त है। प्रजापति की कामना से जो प्राण का व्यापार होता है, वह तप कहलाता है तथा वाक् व्यापार श्रम कहलाता है। इस तप और श्रम से आग्नेय परमाणुओं में सङ्घात होने लगता है। यह यज्ञ वराह का रूप है। इसी ऋत से सत्य उत्पन्न होता है। स्वयम्भू का वराह आदि वराह है। परमेष्ठी का यज्ञ वराह, सूर्य का श्वेत वराह, पृथ्वी का यमूष वराह और चन्द्रमा का ब्रह्म वराह। इस प्रकार पाँच वराह पाँच मण्डलों को जन्म देते हैं।

आपः की गहराई में सूर्य प्रतिष्ठित है यही कूर्मावतार है—

अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिमाप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।

अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः सचताम् ॥

—यजुः संहिता १३/३०

आपः अङ्गिरा का आग्नेय भाग सत्य रूप में परिणत होता है—*तद्यत् तत्-सत्यमाप एव तत् । आपो वै सत्यम्*। आपोमय मण्डल से सर्वप्रथम सूर्य उत्पन्न हुआ। यही सूर्य ही ब्रह्म रूप में वेदत्रयी बना। यह सूर्य अग्निमय है सत्य रूप है स्वयम्भू प्राणमय है जिसका अधिष्ठाता ब्रह्मा है। परमेष्ठी आपोमय है उसका अधिष्ठाता विष्णु है। सूर्य वाङ्मय है उसका अधिष्ठाता इन्द्र है। अन्नादमय पृथ्वी का अधिष्ठाता अग्नि है तथा अन्नमय चन्द्रमा का अधिष्ठाता सोम है।

शरीर के जिस भाग में जल नहीं है वह अपवित्र है। जैसे केश और नख। वस्तुतः जल ही पवित्र करता है। पानी बहुत शक्तिशाली है इसलिए 'वज्रो वा आपः' कहा जाता है। पानी जिस स्थान पर गिरे वहाँ खड्डा बना देता है और जहाँ ठहर जाता है वहाँ वृक्षों को जला देता है। यही उसका वज्रत्व है।

गोपथ ब्राह्मण में श्रम और तप के द्वारा आपः की उत्पत्ति का उल्लेख इस रूप में है कि तप से जो आर्द्रता उत्पन्न होती है वह आनन्द रूप है वही सुवेद है। उस सुवेद को ही स्वेद कहा जाता है—*ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्-स्वयन्त्वेकमेव । तदभ्यश्राम्यत् समतपत् । तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य, सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः । यदारद्रम् अजायत, तेनानन्दत् । सुवेदो ऽभवत् । कं वा एतं "सुवेदं" सन्तं स्वेद इत्याचक्षते । सः भूयः समतपत् । तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथग् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त । (गोपथ ब्राह्मण १.१.२) ।*

इस प्रकार ब्रह्मा के तप से उत्पन्न आपः यदि स्वेद है तो वैष्णव तप से उत्पन्न आपः श्रद्धा नामक अम्भ तत्त्व है। सौर, रौद्र तप से उत्पन्न आपः मरीचि है। अम्भः का सम्बन्ध गङ्गा से है जो सोम के सम्बन्ध से शीत प्रकृति वाली है। मरीचि का सम्बन्ध यमुना से है जो सौर सम्बन्ध से अग्नि प्रकृति है। अध्यात्म में बौद्धिक श्रम के तप से जो अश्रु उत्पन्न होते हैं ये परिश्रमाश्रु अथवा

स्वेदकण कहलाते हैं। इन अश्रुओं से शान्तानन्द की प्राप्ति होती है। वैष्णव तप कर्म प्रधान श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह आदि मानसिक तप हैं जो श्रम कहलाता है। इससे प्रेमाश्रु उत्पन्न होता है। रौद्र तप शारीरिक श्रम है जिससे सर्वाङ्ग से स्वेद निकलता है। यही स्वेद यदि अधिक तप से निकले तो शोकाश्रु कहलाता है। जब तक भौतिक तप के मूल में श्रद्धा स्नेह रूप मानसिक तप न हो और श्रद्धा स्नेह रूप मानसिक तप के मूल में ज्ञान रूप बौद्धिक तप न हो तब तक वह सेवा दृढमूल नहीं होती।

पानी अग्नि की प्रतिष्ठा है। पानी के ही संयोग से औषधियाँ अग्नि द्वारा परिपक्व होती हैं। आप्याग्नि की दो अवस्थाएँ हैं—इन्द्र प्रमुख देवताओं के साथ जो आप्याग्नि रहती है वह शुद्ध है, वरुण के साथ रहने वाली आप्याग्नि दोषाक्रान्त है। जो अन्न हम खाते हैं उसका रस भाग प्राणेन्द्रियों से युक्त हो जाता है। मल भाग आपोभाग में रह जाता है। सौर प्राण इन्द्र है। आप्या तत्त्व वरुण प्रधान है। नित्यानवे आप्य प्राण असुर हैं, सत्ताईस वायव्य प्राण गन्धर्व हैं, आठ सौम्य प्राण पितर हैं। पानी तरल है। उसके बिना मैथुनी सृष्टि सम्भव नहीं। इसलिए आपः को जाया कहा जाता है। आपः से ही प्रजा प्रतिष्ठित है। अतः उसे धारा भी कहा जाता है—*धारा अभवस्तद्धारणा धारात्वं यच्चासु पुरुषो जायते। (गोपथ ब्राह्मण १.२)।*

अमृतवाद

सत्-असत्-वाद में सत् का अर्थ भाव और असत् का अर्थ अभाव किया गया है। किन्तु अमृत = मृत्युवाद के अन्तर्गत दोनों को ही भावात्मक माना गया है। प्राणी की अवस्था क्षण-क्षण परिवर्तनशील है किन्तु परिवर्तन में अपरिवर्तनीयता अमृत है। ये दोनों ही नित्य नहीं है अमृत में जो नित्यता है वह धारावाहिकता का नाम है और मृत्यु की नित्यता क्षणिकता है। इन दोनों में अन्तरान्तरी भाव है। ये दोनों साथ-साथ ही रहते हैं—

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्— मृत्युर्विवस्वन्तं वस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति ॥ (शतपथ ब्राह्मण १०.५.२.४)

इसलिये अमृत और मृत्यु दोनों को ही सृष्टि का कारण मानना चाहिये—*निवेशयन्नमृतं मर्त्यञ्च। यजु. सं. ३४/३१।*

मृत्यु और अमृत का विभाजन सूर्य से होता है। जो सूर्य के पार है वह अमृत है जो सूर्य के नीचे है वह मृत्यु है—

स एष मृत्युस्तद्यत्किञ्चार्वाचीनमादित्यात्सर्वं तन्मृत्युनाप्तम्—अथ य एनमत ऊर्ध्वं चिनुते स पुनर्मृत्युमपजयति ॥ (शतपथ ब्राह्मण १०.५.१.४)

अमृत को रस तथा बल को मृत्यु कहा जाता है।

नित्यता अमृत है नश्वरता मृत्यु है। अमृत स्थिति है मृत्यु गति है। एक देव है, दूसरा भूत है। एक दिग्कालाद्यनवच्छिन्न है, दूसरा दिग्कालाद्यवच्छिन्न है। दोनों को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। अमृत को सोम तथा मृत्यु को अग्नि भी कहा गया है। सोम अग्नि में तथा

अग्नि सोम में बदल जाता है। अमृत सुख है, मृत्यु दुःख है। दोनों के बीच अविनाभाव सम्बन्ध है। इस प्रकार के तत्त्व दो होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं।

अहोरात्रवाद

अहोरात्रवाद दिन और रात नामक दो तत्त्वों के प्रतीक हैं। इन तत्त्वों को तेज और स्नेह कह सकते हैं। तेज शुष्क है, स्नेह आर्द्र है। तेज ही अहः है स्नेह रात्रि है। तेज को अन्नाद अथवा अग्नि भी कह सकते हैं, स्नेह को अन्न अथवा सोम भी कह सकते हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण से सृष्टि उत्पन्न हुई। दोनों का सम्मिश्रण यज्ञ कहलाता है। यही सृष्टि का मूल है। तेज को ऋषियों की भाषा में अङ्गिरा और स्नेह को भृगु कहते हैं। दिन में सूर्य रहता है वह अग्नि रूप है। रात्रि में चन्द्रमा रहता है वह सोम रूप है। इन दो से ही समस्त संसार बना है—**अग्नीषोमात्मकं जगत्** (बृहज्जाबालोपनिषद् २.४) अग्नि योनि है। सोम रेत है। इन दोनों की समष्टि ही यज्ञ है। तेज की घन अवस्था अग्नि है, तरल अवस्था यम है, और विरल अवस्था आदित्य है। स्नेह की घन अवस्था आपः है, विरल अवस्था वायु है और तरल अवस्था सोम है। वेद कहता है—**विपुरुषे अहनी सञ्जरेते (ऋग्वेद १.१२३.७/१.१८५.१)**। शतपथ ब्राह्मण में इसी का स्पष्टीकरण इन शब्दों में किया गया है—**द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, शुष्कञ्चैवार्द्रं च । यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्रं तत्सौम्यम् । (शतपथ ब्राह्मण १.६.३.२.३) ।**

अहोरात्र से अभिप्राय काल से है। काल को ही सृष्टि का कारण मानने वाले अहोरात्र को सृष्टि का कारण मानते हैं। अथर्ववेद में काल को परमदेव बताया गया है—**कालः स ईयते परमो देवः (अथर्ववेद १९.५.४.५)**। अहोरात्र केवल हमारे ही नहीं है ब्रह्मा के भी हैं। सहस्र युगों का ब्रह्मा का दिन है और सहस्र युगों की ही ब्रह्मा की रात्रि है। ब्रह्मा का दिन ही सृष्टि है ब्रह्मा की रात्रि ही प्रलय है। अथर्ववेद के दो काल सूक्तों में अहोरात्रवाद का विस्तार से वर्णन है। जगत् काल के रथ का चक्र है। कालचक्र ही वर्तमान तथा भविष्य का निर्माण करता है। वह स्वयम्भू है काल से ही सूर्य उदित होता है। काल से ही ऋक् और यजुः उत्पन्न हुए हैं। काल विराट् यज्ञ है। अहोरात्र काल के निदर्शक हैं।

रात्रि प्रकृति है। अहः विकृति है। वस्तुतः अहोरात्र अनेक प्रकार के द्वन्द्वों को बतलाता है। उदाहरणतः दिन ज्ञान है रात्रि अज्ञान है। शुक्ल और कृष्ण भी अहोरात्र है। प्रकाश और अन्धकार तो अहोरात्र हैं ही। भाव को दिन तथा अभाव को रात्रि कहा जाता है। सृष्टि दिन है, प्रलय रात्रि है। द्यौं दिन है, पृथ्वी रात्रि है। तेज दिन है, स्नेह रात्रि है। पृथ्वी के वाक्, प्राण और मन तथा सूर्य के वाक्, प्राण और मन इन छः का छः दिनों में निर्माण हुआ सातवाँ दिन श्री का है। इसमें आत्मा कृतकृत्य हो जाती है। यही सप्ताह का स्वरूप है। यज्ञ के सन्दर्भ में भी काल महत्त्वपूर्ण है क्योंकि दर्श पौर्णमासादि यज्ञ काल के आधार पर ही होते हैं। अहोरात्रवाद को शिव और शक्ति के रूप में भी समझा जा सकता है।

विज्ञान के क्षेत्र में अग्नि का नाम अहः, सोम का नाम रात्रि है। अहः ज्योतिर्लक्षणसौर मघवेन्द्र से युक्त अग्नि तत्व है। कृष्ण सोम रात्रि है। भू पिण्ड का अदिति भाग अहः है, दिति भाग रात्रि

है। चन्द्रमा अहोरात्र पन्द्रह दिनों के हैं। अहः तत्त्व शुक्ल पक्ष है, रात्रि कृष्ण पक्ष है। इसी प्रकार उत्तरायण अहः है, दक्षिणायन रात्रि है। सृष्टिकाल अहः है, प्रलयकाल रात्रि है। हमारे दिन रात मानुष हैं, चन्द्रमा के कृष्ण पक्ष, शुक्ल पक्ष पैत्र अहोरात्र है। उत्तरायण दक्षिणायन दैव अहोरात्र है, सृष्टि और प्रलय ब्राह्म अहोरात्र है। जो पितरों का अहः है वही देवताओं की रात्रि है। जो देवताओं का अहः है वही पितरों की रात्रि है क्योंकि देवता ज्योतिरूप हैं, और पितर सोम रूप हैं।

दिन के बारह वजे से रात्रि के १२ बजे पर्यन्त आप्य वरुण प्राण का साम्राज्य है। यह वरुण पश्चिम कपाल है। यह पितरों का अहः है तथा देवताओं की रात्रि है। इसलिये पूर्वाह्न देवकाल है। अपराह्न पितृकाल है।

मानुष अहोरात्र की विभाजिका दक्षिणोत्तर वृत्तात्मिका उर्वशी है, जो पूर्व पश्चिम कपाल को बाँटती है। दक्षिणोत्तर दिक् को बाँटने वाली याम्योत्तर रेखा है जो पितरों के अहोरात्र बनाती है। शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी तक ऐन्द्रमित्र प्राण का साम्राज्य है। यह देवताओं का अहः और पितरों की रात्रि है। कृष्णाष्टमी से शुक्लाष्टमी पर्यन्त आप्य वरुण प्राण का साम्राज्य है। यह पश्चिम कपाल है। यह देवताओं की रात्रि और पितरों का अहः है।

याम्योत्तर रेखा उत्तर गोल के मध्य से दक्षिण गोलके मध्य पर्यन्त पूर्व-पश्चिम कपालको बाँट रही है—आधा उत्तर गोल आधा दक्षिण गोल। यह इन्द्र-मित्र प्राण से युक्त है। यही देवताओं का अहः है तथा पितरों की रात्रि है। इसके दूसरी ओर विपरीत स्थिति है।

अङ्गिरा धारा तेजोधारा है। इसका प्रारम्भ सातवें मन्वन्तर के समाप्त होने पर होता है। सातवें मन्वन्तर के समाप्त होने पर अहः का विकास समाप्त हो जाता है और ब्रह्मा की रात्रि प्रारम्भ हो जाती है। इसके विपरीत ब्रह्माका दिन है।

इस सम्बन्ध में अनेक श्रुति प्रमाण हैं—

ऐन्द्रमहः (तै.ब्रा. १/१/४/३)

मैत्रं वा अहः (तै.ब्रा. १/७/१०/१)

रात्रिर्वरुणः (ऐ.ब्रा. ४/१०)

वारुणी रात्रिः (तै.ब्रा. १/७/१०/१)

अहरेवाग्नये (शतपथ ब्राह्मण १ का ६/३/२४)

यच्छुक्लं तदाग्नेयम् (शतपथ ब्राह्मण १ का. ६/३/४१)

सौम्या रात्रिः (शतपथ ब्राह्मण १/६/३/२४)

यत् कृष्णं तत्सौम्यम् (शतपथ ब्राह्मण १/६/३/४१)

यज्ञ का सम्बन्ध काल से है। अहोरात्र से अग्निहोत्र जुड़ा है। पक्ष से दर्शपौर्णमास, ऋतु से चातुर्मास्य और अयन से पशुबन्ध।

अहः का सम्बन्ध वाज से है रात्रि का आपः से । वाज का अर्थ है भूत शरीरको धारण करने वाला प्राण ।

अहोरात्र पर आयु का परिमाण आधारित है । मनुष्य की आयु १०० वर्ष है । मनुष्य का एक वर्ष देवताओं का एक अहोरात्र है । उसी परिमाण से देवताओं की आयु भी सौ वर्ष है । बारह सौ दिव्यवर्षों का एक खण्ड दिव्य युग है और दो हजार दिव्य युगों का एक महा दिव्य युग । ये एक महादिव्य युग ही ब्रह्मा का एक अहोरात्र है । सौ ब्राह्मण वर्षों का एक ब्राह्मण युग है और हजार ब्राह्मण युगों का एक विश्वेश्वर युग है । इस विश्वेश्वर युग का सम्बन्ध महामायी महेश्वर से है । ब्राह्मण का सम्बन्ध योगमायी विश्वेश्वर से है । दिव्य युग का सम्बन्ध संवत्सर मूर्ति उपेश्वर से है और मानुष युग का सम्बन्ध संवत्सर प्रतिमान भूत मानव से है ।

संशयवाद

सृष्टि के सम्बन्ध में इतने सारे मत आने का यह परिणाम हुआ कि इन सभी मतों के सम्बन्ध में संशय हो गया । इस संशय के दो रूप हैं । प्रथम निश्चयात्मक संशयवाद, दूसरा अनिश्चयात्मक संशयवाद । निश्चयात्मक संशयवाद में यह भाव रहता है कि कोई कारण है तो अवश्य, किन्तु हम उसे जान नहीं सकते । अनिश्चयात्मक संशयवाद में यह भी निश्चय नहीं रहता कि विश्व का मूल कारण है या नहीं ।

जिस प्रकार विश्व का मूल सन्दिग्ध है विश्व का तूल भी सन्दिग्ध है । विश्व का क्या स्वरूप है यह भी निश्चित रूप से नहीं जाना जा सकता । इसलिये वैदिक ऋषि संशय की भाषा में बोल उठता है—*न तं विदाथ य इमा जजान (ऋक् संहिता १०.८.२७)* । स्वयं नासदीय सूक्त के छठे और सातवें मन्त्र में इसी संशयवाद की चर्चा है—*योऽस्याध्यक्ष परमे व्योमन्त्सो अङ्गवेद यदि वा न वेद (ऋक् संहिता १०.१२९)* ।

संशयवाद का अर्थ है निश्चय न कर पाना कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई । बौद्धों ने इस प्रश्न को अव्याकृत मानते हुए विचार भी नहीं किया कि सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई । जैनों ने सृष्टि को अनादि अनन्त मान लिया । वेद में अनेक ऐसे प्रसङ्ग हैं, जहाँ सृष्टि के मूल के सम्बन्ध में संशय अभिव्यक्त किया गया है । आत्मा परमात्मा, परलोक, कर्मफल इत्यादि अनेक दर्शन के ऐसे विषय हैं जिनमें आज भी संशय बना हुआ है ।

इन सब वादों का अतिक्रमण करके ही वैदिक ऋषि सिद्धान्तवाद तक पहुँचा था जिस सिद्धान्तवाद में सृष्टि के उद्भव और विकास का व्यवस्थित रूप दिया है । स्वयम्भू ब्रह्मा ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या दी । यह सत्य है कि सृष्टि के गर्भ में अनेक प्रकार के कार्य कारण भाव हैं । किन्तु सृष्टि का मूल कारण क्या है । यह खोज करने में हमें सृष्टि का मूल कारण सृष्टि की सीमा के भीतर नहीं बल्कि सृष्टि की सीमा के बाहर खोजना होगा । मूल कारण अनेक नहीं बल्कि एक ही है । नासदीय सूक्त में सृष्टि के उन समस्त कारणों का निषेध किया गया है जिन्हें पूर्व पक्ष रूप में हमने ऊपर प्रस्तुत किया है । ये सभी पूर्व पक्ष ब्रह्मवाद से जुड़कर सार्थक सिद्ध हो जाते हैं । वास्तविक संख्या एक ही है । एक से अधिक की संख्या भातिसिद्ध है, सत्ता सिद्ध

नहीं है। इसलिये सृष्टि के कारण के रूप में एक कारण का प्रतिपादन होना चाहिये, एक से अधिक कारणों का नहीं।

जिन सिद्धान्तों का उल्लेख हमने ऊपर वैदिक साहित्य के आधार पर किया है वे ही सिद्धान्त गीता में भी ज्यों की त्यों स्थिति में उपलब्ध हैं। ब्रह्म और कर्म विषयक सिद्धान्त को लेकर ही गीता ने हमारे जीवन का भी मार्ग दर्शन किया है।

सृष्टि का मूल कारण अव्यय पुरुष है जिसकी पाँच कलाएँ हैं—आनन्द विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। इनमें आनन्द, विज्ञान और मन विद्या रूप हैं। मन, प्राण और वाक् वीर्य रूप हैं। विद्या मोक्ष का कारण है, वीर्य सृष्टि का। इस प्रकार ब्रह्म की दो मूर्तियाँ हैं। ब्रह्म शब्द निरुपाधिक है, निरपेक्ष है। आत्मा शब्द सोपाधिक है, सापेक्ष है। इसलिये आत्मा को शरीर चाहिए। इसलिये ही हम आत्मा शब्द को सुनकर यह सदा पूछते हैं कि किसकी आत्मा। किन्तु ब्रह्म के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं करते कि किसका ब्रह्म। जो निरपेक्ष ब्रह्म को सापेक्ष आत्मा में बदल देती है वही माया है। इस माया के दो रूप हैं—योगमाया और महामाया। महामाया का सम्बन्ध समष्टि से है, योगमाया का सम्बन्ध व्यष्टि से है। इसलिये महामाया एक है, योग माया अनेक है। जो महामाया से अवच्छिन्न है, वह ईश्वर है। जो योग माया से अवच्छिन्न है, वह जीव है। विश्व का नाम विश्व इसीलिये है कि उसमें आत्मा प्रविष्ट है। यह समस्त विश्व ईश्वर का शरीर है। इसलिये ईश्वर का अन्तर्जगत् है, यद्यपि हमारे लिये यह बहिर्जगत् है। जीव ईश्वर में है किन्तु ईश्वर जीव में नहीं है। ईश्वर व्यापक है जीव व्याप्य।

दूसरे अध्याय के अन्तर्गत ब्रह्माधिकरण में हमने इस ब्रह्मवाद का ही वर्णन वैदिक आधार पर किया है। उस ब्रह्मवाद से जोड़कर देखे जाने पर उपर्युक्त दशवाद सृष्टिविद्या के प्रति एक वैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। इसी दृष्टि से इन दशवादों का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया। विस्तार से जानने की इच्छा रखने वालों को वैदिक साहित्य के अतिरिक्त पण्डित मधुसूदन ओझा तथा पण्डित मोतीलाल शास्त्री का एतद् विषयक साहित्य देखना चाहिए।

उपसंहार

वेद-विज्ञान के भावी अध्ययन की दिशाएँ

पण्डित मधुसूदन ओझा तथा उनके शिष्य पण्डित मोतीलालजी शास्त्री नामक दो विद्वानों ने सम्पूर्ण वैदिक-वाङ्मय का आलोडन करके जो विशाल साहित्य लिखा उसी से प्रेरणा लेकर हमने छह अध्यायों के अन्तर्गत जीव, ब्रह्म, जगत्, कर्म तथा तत्त्ववेद देवता के महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है। इन सभी विषयों की चर्चा प्राचीन काल में भी हुई है, आधुनिक काल में भी पूर्व तथा पश्चिम के विद्वानों ने इन विषयों पर अपनी लेखनी चलायी है। अपने अध्ययन के आधार पर हम जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं उनका यहाँ सङ्क्षिप्त उल्लेख करना उचित होगा—

- (१) आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के विकास का श्रेय मुख्यतः उन पश्चिमी विद्वानों को जाता है जो भारत के प्राचीन ऋषियों के समान ही निरन्तर तपस्या के बल पर नित्य नूतन तथ्यों की गवेषणा में निरत रहे। आज उस पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के विस्तार ने पूरे विश्व को अभिभूत कर लिया है। उस ज्ञान-विज्ञान को पूरा सम्मान देते हुए भी हमारी मान्यता है कि प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने जो ज्ञान-विज्ञान की प्रगति की थी उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये। हमारी इस मान्यता का कारण यह नहीं है कि हम स्वयं भारतीय होने के नाते भारतीय दृष्टि के प्रेमी हैं, प्रत्युत हम यह अनुभव करते हैं कि भारतीय दृष्टिकोण पूरी मानव जाति के लिये अत्यन्त हितकारी सिद्ध हो सकता है।
- (२) दर्शन के क्षेत्र में भारतीय चिन्तन को अनेक विद्वानों ने रेखाङ्कित किया है और विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीयों की उपलब्धियों को अनेक विद्वान् प्रकाश में लाये हैं। इसके बावजूद दर्शन तथा विज्ञान इन दोनों ही क्षेत्रों में भारतीय दृष्टि को नये सिरे से देखने की आवश्यकता है। क्योंकि यद्यपि मनु की यह घोषणा कि सब कुछ वेद से ही उद्भूत हुआ है—सर्व वेदात्प्रसिद्ध्यति—सर्वविदित है तथापि दुर्भाग्यवश भारतीय दर्शन तथा विज्ञान को वेदों से जोड़ कर देखने का गम्भीर प्रयत्न नहीं हुआ।
- (३) आज शिक्षा, व्याकरण, ज्योतिष, कल्प, छन्द तथा निरुक्त नामक वेदाङ्गों तथा आयुर्वेद, सङ्गीत, धनुर्वेद एवं शिल्पवेद जैसे उपवेदों का जो भी थोड़ा बहुत अध्ययन प्रचलित है उसे वेदों

से स्यात् ही ठीक से जोड़ा जाता हो। उदाहरणतः व्याकरण के अध्येता व्याकरण के अध्ययन के प्रयोजन बतलाते समय वेदाङ्गों में व्याकरण को वेदों का मुख बताकर—*मुखं व्याकरणं स्मृतम्*—अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं किन्तु कितने वैयाकरण आज यह कह सकते हैं कि उन्होंने अपने व्याकरण-ज्ञान का उपयोग वेदों के रहस्य को उद्घाटित करने में किया है? दूसरी ओर अपने आप को वैदिक कहने वाले पण्डित इस बात का अत्यन्त गर्व करते हैं कि वे जो सस्वर वेदपाठ की परम्परा को सुरक्षित रख पा रहे हैं उसका कारण उनका वेद के प्रति एकनिष्ठा का भाव है और इसलिये वे व्याकरण, निरुक्त आदि अन्यान्य शास्त्रों में अपना ध्यान देना उचित नहीं समझते। अङ्ग और अङ्गी के बीच इस सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति को हम व्याकरण और वेद दोनों के ही लिये अहितकर मानते हैं।

- (४) कहने की आवश्यकता नहीं है जो स्थिति व्याकरण की है, ज्योतिष जैसी अर्थकरी विद्या की भी वही स्थिति है। ज्योतिष को वेदों का चक्षु बताया गया है। क्या ज्योतिष के बल पर अच्छी खासी सम्पत्ति जुटा लेने वाले ज्योतिषी कभी उस वेदपुरुष की ओर आँख उठाकर भी देखते हैं जिस वेदपुरुष का ज्योतिष को चक्षु माना जाता है? हमारा मानना है कि वेद से विच्छिन्न होने के कारण ही इन वेदाङ्गों का विकास अवरुद्ध हो गया है। कोई भी अङ्ग अङ्गी से पृथक् होकर भला कैसे विकास कर सकता है?
- (५) समस्त वेदाङ्गों में निरुक्त अब भी वेद से जुड़ा हुआ है। इसका सुपरिणाम भी हमारे सामने हैं। वेद से जुड़कर निर्वचन की कला एक अत्यन्त विकसित भाषाविज्ञान का अन्तर्राष्ट्रीय रूप ले चुकी है जबकि ज्योतिष जैसे विज्ञान को विश्वविद्यालयीय क्षेत्र में कोई विज्ञान मानने के लिये भी तैयार नहीं है। वेद-विज्ञान की जड़ से कटकर ज्योतिष अन्धविश्वास की तथा कर्मकाण्ड रूढ़िवाद की श्रेणी में आ चुका है।
- (६) दूसरी ओर आयुर्वेद जैसे उपवेद की स्थिति यह है कि आयुर्वेद पढ़ने वालों के लिये उस आधुनिक विज्ञान का ज्ञान तो आवश्यक माना जाता है जिस आधुनिक विज्ञान के आधार पर आयुर्वेद के सिद्धान्त बने ही नहीं हैं। किन्तु जिस वेदविज्ञान के आधार पर आयुर्वेद के सिद्धान्तों का भवन खड़ा हुआ है उस वेदविज्ञान का सामान्य परिचय भी आयुर्वेद के छात्रों को देना अनावश्यक समझा जाता है। आधुनिक विज्ञान आयुर्वेद से असम्बद्ध है, इतना ही नहीं है, प्रत्युत आयुर्वेद की समग्र दृष्टि का आधुनिक विज्ञान की खण्डित दृष्टि से अन्तर्विरोध भी है। हमने प्रस्तुत ग्रन्थ में शरीर निर्माण की जिस प्रक्रिया का चरक के आधार पर वर्णन किया है। आधुनिक वैज्ञानिक इस प्रक्रिया को अवैज्ञानिक घोषित कर रहे हैं। सोचना चाहिये कि जिस विज्ञान के अनुसार चरक की प्रक्रिया ठीक ही नहीं है उस विज्ञान को पढ़ कर चरक पढ़ने वाला विद्यार्थी चरक के प्रति कैसे निष्ठावान् होगा? परिणाम हमारे सम्मुख है। आज के नये वैद्य की पूरी निष्ठा एलोपैथी में हो गयी है और इसके लिये अधिकृत न होने पर भी वह खुल्लमखुल्ला अथवा छिपाकर एलोपैथी की औषधियों का प्रयोग धड़ल्ले से कर रहा है। शुद्ध आयुर्वेदिक पद्धति से चिकित्सा करने वाला वैद्य मिलना दुर्लभ होता जा रहा है। आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपवेद माना जाता है। अथर्ववेद को ये *त्रिषप्ताः*

परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः जैसे अनेक मन्त्रों में आयुर्वेदिक सिद्धान्तों का सारगर्भित उल्लेख है, किन्तु न वैद्यों का ध्यान इस ओर जाता है न ही वैदिक विद्वानों का ।

(७) आज यह प्रश्न बारम्बार पूछा जा रहा है कि वेद का उपयोग क्या है । अपने वेदविद्या-प्रवेशिका नामक ग्रन्थ में विवेचित इस प्रश्न के उत्तर को हम यहाँ पुनः सङ्क्षेप में दोहराना चाहेंगे । योग एक बात है और उपयोग दूसरी बात है । खेती के लिये खेत में धूप और हवा भी चाहिये तथा खाद भी चाहिये । धूप और हवा का खेती में योग है, खाद का उपयोग है; जरूरी दोनों हैं । किसी भी कार्य की सिद्धि में वेद का योग होता है, उपवेद का उपयोग होता है; दोनों में से यदि कोई एक न रहे तो कार्यसिद्धि उसी प्रकार बाधित हो जाती है जिस प्रकार धूप-हवा तथा खाद में से किसी भी एक के न रहने पर फसल नहीं पनप पाती । आधुनिक भाषा में कहें तो वेद विशुद्ध-विज्ञान (pure science) है, उपवेद प्रायोगिक-विज्ञान (applied science) है । दोनों की एक दूसरे के बिना जो दुर्गति हो रही है, वह सबके सामने है । वेद उपवेद से हट कर अनुपयोगी हो गये हैं, उपवेद वेद से कटकर अपना विकास अवरुद्ध कर चुके हैं । हमारा विश्वास है कि यदि आयुर्वेद जैसे उपवेद पुनः वेदविज्ञान को अपना आधार बनाकर चलें तो इनका द्रुतगति से विकासमार्ग पुनः खुल जायेगा और ऐसी नयी-नयी चिकित्सायें सामने आयेंगी जो मानवता के लिये अत्यन्त कल्याणप्रद सिद्ध होंगी । डा. फ्रिट्जॉफ कॉपरा ने 'दी टर्निंग प्वाइण्ट' के चिकित्सा सम्बन्धी अध्याय में भारतीय चिकित्सापद्धति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है किन्तु आयुर्वेद वेदविज्ञान के बिना अपना पूरा वैभव प्रकट नहीं कर पा रहा है ।

(८) वेद-विज्ञान की उपेक्षा के बावजूद जो पुरानी विद्यायें अपने बल पर इस दशक में ही उभर कर आयी हैं इनमें एक है—वैदिक गणित । वैदिक गणित की धाक आज पूरे विश्व में व्याप्त हो चुकी है । एक आपत्ति यह की जा रही है कि वैदिक गणित का आधार वेद में नहीं है । यह धारणा नितान्त भ्रान्त है । यह बात सर्वमान्य है कि शून्य तथा दशमलव प्रणाली का आविष्कार भारत में हुआ । इनमें से शून्य शब्द को लें तो यह शब्द वेद के 'श्वान्' शब्द से निकला है । 'श्वान्' इन्द्र का वह स्वरूप है जो शून्य स्थान (Vacume) में व्याप्त रहता है । वेद-विज्ञान के अनुसार प्रकृति में ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ कुछ न हो । जहाँ कुछ नहीं है वहाँ भी 'श्वान्' नामक इन्द्र है । इसी आधार पर उस स्थान को 'शून्य' कहा जाता है । शून्य का अर्थ अभाव नहीं है, उसकी भी अपनी एक सत्ता है । इसी वैदिक अवधारणा पर गणित में शून्य का आविष्कार हो सका जो स्वयं कुछ न हो कर भी गणित का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अङ्ग बन गया । इसीलिये रोम की अङ्क लिखने की अत्यन्त जटिल रोमन प्रणाली के स्थान पर वह सरल प्रणाली आ सकी जिसमें दश के अङ्क को एक के बाद शून्य लगा कर लिखा गया । इस नयी प्रणाली को लोगों ने भारत से सीखा और इसी आधार पर अङ्कों को हिन्दसा (हिन्दुस्तान से आया हुआ) कहना चालू किया । अरब से यह प्रणाली यूरोप पहुँची तो यूरोप वालों ने इसे अरबी (Arabic) अङ्क नाम दिया । वर्तमान में वैदिक-गणित पर अनुसन्धान करने वाले विद्वान् भी यदि वेद-विज्ञान का अध्ययन करें तो उनका अनुसन्धान

नये आयामों को उद्घाटित करने वाला होगा।

- (९) एक दूसरी विद्या जो इस दशक में उभरी वह है—वास्तुविद्या। वैदिक-दिक्-देश-काल-मीमांसा पर आधृत यह विद्या भी तेजी से लोकप्रिय हो रही है। कुछ अभियन्ता इस ओर अपना ध्यान दे रहे हैं। यह विद्या पूर्णतः वेद-विज्ञान पर टिकी है। प्रत्येक दिशा का अपना देवता है—पूर्व का अग्नि, उत्तर का सोम, पश्चिम का वरुण, दक्षिण का यम इत्यादि। ये सभी देव प्राण हैं। गृह निर्माण के समय यदि इस दिग्देवता ज्ञान को ध्यान में रखा जाये तो गृहस्वामी के अभ्युदय का कारण बनता है।

वास्तुविद्या का एक रोचक उदाहरण अभी सामने आया। एक वास्तुविद् ने एक गृहस्वामी से कहा कि आपका घर वास्तुविद्या के अनुसार नहीं बना है, इसे तुड़वा कर दुबारा बनवायें। गृहस्वामी ने कहा कि यह घर तो एक वास्तुविद् की देखरेख में ही बना है, आप इसे गलत कैसे बता रहे हैं? वह वास्तुविद् कोई कारण न बताकर केवल यही कहता रहा कि यह गलत है। प्रश्न होता है कि यदि वास्तुविदों में विरोध हो जायें तो शुद्धाशुद्ध का निर्णय कौन करे? उत्तर यह है कि वास्तुशास्त्र भी एक उपवेद ही है। सन्देह की स्थिति में उसे वेद की ही शरण में जाना होगा। वस्तुतः अनेक भारतीय विद्याओं का यह दोष है कि वे गुरुशिष्य परम्परा से केवल श्रद्धा के बल पर चल रही हैं, कारणकार्य-सम्बन्ध मूलक विज्ञान के आधार पर नहीं। श्रद्धा आवश्यक है, किन्तु तर्क का भी अपना स्थान है। भारतीय विद्याओं को तार्किक आधार वेदविज्ञान प्रदान करता है। वेदविज्ञान के तार्किक आधार के बिना सभी भारतीय विद्यायें अन्ततोगत्वा विज्ञान न रह कर अन्धविश्वास में परिणत हो जाती हैं।

- (१०) हमने ऊपर विज्ञान की चर्चा की है। इसी प्रकार दर्शन की स्थिति भी देखनी चाहिये। भारत में छः दर्शन स्वयं को वैदिक मानते हैं। यह भी सर्वविदित है कि इन छः दर्शनों का परस्पर पुराना विवाद है। प्रश्न होता है कि यदि ये सभी दर्शन वैदिक हैं तो इनका परस्पर विवाद क्यों? इन दर्शनों में कौन सा दर्शन ठीक तथा कौन सा गलत है?

वेदविज्ञान की सृष्टिविद्या को देखें तो सृष्टि में त्रिविध पुरुषों का योगदान है—अव्यय, अक्षर तथा क्षर। गीता ने इन तीनों का स्पष्ट उल्लेख किया है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, दर्शन दृष्टि का पर्यायवाची है। देखने की हमारी तीन दृष्टियाँ हो सकती हैं—अव्ययपुरुष की दृष्टि, अक्षर की दृष्टि, क्षर की दृष्टि। अतः तीन ही दर्शन होंगे। अव्यय की दृष्टि वेदान्त है, अक्षर की दृष्टि साङ्ख्य तथा क्षर की दृष्टि वैशेषिक। वेदान्त तथा मीमांसा समानतन्त्र हैं—एक उत्तर मीमांसा है, एक पूर्व मीमांसा। साङ्ख्य तथा योग समानतन्त्र हैं—साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। न्यायवैशेषिक की समानतन्त्रीयता तो प्रसिद्ध है ही। इस प्रकार इन छहों दर्शनों में न परस्पर कोई विरोध है न इनका अपने आप को वैदिक मानने का दावा गलत है। वेदविज्ञान के आलोक में न केवल इन छह वैदिक दर्शनों का प्रत्युत उन दर्शनों का भी पुनर्मूल्याङ्कन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है जो स्वयं को अवैदिक घोषित करते हैं। इस प्रकार वेदविज्ञान समस्त चिन्तन धाराओं के बीच एकसूत्रता स्थापित करके राष्ट्र की भावनात्मक एकता में अत्यन्त सहायक बन सकता है।

- (११) यह युग भूमण्डलीकरण का है। आर्थिक अथवा व्यापारिक भूमण्डलीकरण की एक आवश्यकता वैचारिक भूमण्डलीकरण भी है। वेदविज्ञान जिन पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक अथवा अग्नि, वायु तथा आदित्य की मूलभूत अवधारणाओं पर टिका है वे सार्वदेशिक और सार्वकालिक होने के कारण इस भूमण्डलीकरण के युग में सर्वाधिक उपयुक्त हैं। यदि हमने उनका सहारा लिया तभी हमारा 'विजयी विश्व तिरङ्गा प्यारा' गाना अन्वर्थक होगा। तथा वह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माध्यम से होने वाले अपसंस्कृति के प्रवेश को रोक सकेगा।
- (१२) वैदिकदृष्टि की सर्वाङ्गीणता सबको अपने में समेट लेने के कारण सर्वग्राही भी है और सर्वग्राह्य भी। शरीर को अर्थ, मन को काम, बुद्धि को धर्म तथा आत्मा को मोक्ष मिले तो फिर किसी को और क्या चाहिये? इस चतुर्वर्गफलप्राप्ति का आश्वासन वेद के अतिरिक्त अन्यत्र कहाँ है? आश्वासन की बात तो दूर, इन चारों की स्वीकृति भी कहाँ है? जहाँ अर्थ-काम की स्वीकृति है तो वहाँ धर्म-मोक्ष को ढकोसला बताया जाता है, और जहाँ धर्म-मोक्ष की स्वीकृति है वहाँ अर्थ-काम को बन्धन का कारण घोषित किया जा रहा है। पूर्ण मनुष्य की स्वीकृति ही वेद के अतिरिक्त कहीं नहीं है तो फिर पूर्णता की प्राप्ति का प्रश्न कहाँ है? जहाँ पूर्णता नहीं; वहाँ सुख भी नहीं है—*भूमा वै सुखम्, नाल्ये सुखमस्ति*।
- (१३) भूतविज्ञान ने जो उन्नति की, उससे हम चमत्कृत होते रहे। आज पर्यावरण की समस्या को लेकर हमारा मोह भङ्ग हो गया है। यज्ञविज्ञान के आधार पर एक ऐसी अर्थनीति अपनायी होगी जो विकास और प्राकृतिक सन्तुलन के बीच की खाई को पाट सके। यह दिशा वेद के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं मिल पायेगी। हम यज्ञशेष प्रवर्ग्य का भोग करें—*तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः ब्रह्मौदन का लालच न करें—मा गृधः कस्यस्विद्धनम्*।
- (१४) चार वेदों की चतुर्मुखता को लेकर ही अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, न्यायशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का निर्माण करना होगा। ऋग्वेद का अग्निदेव समाज में श्रमिक का, परिवार में बालक का तथा व्यष्टि में शरीर का रक्षक है, यजुर्वेद का वायुदेव समाज में व्यापारी का, परिवार में स्त्री-वर्ग का तथा व्यष्टि में मन का सञ्चालक है, सामवेद का आदित्य देव समाज में प्रशासक का, परिवार में युवकों का तथा व्यष्टि में बुद्धि का मार्गदर्शक है तथा अथर्ववेद का सोमदेव समाज में बुद्धिजीवियों का, परिवार में वृद्धों का तथा व्यष्टि में आत्मा का तर्पयिता है। इस चतुर्मुखी दृष्टि को लेकर ऋग्वेद से कर्म, यजुर्वेद से गतिशीलता, सामवेद से विवेक और अथर्ववेद से आनन्द का भाव लेकर एक समन्वित राजनीति, अर्थनीति तथा समाजनीति अपनायी होगी। वेदविज्ञान तत्तत् शास्त्रविदों को इस दिशा में महत्वपूर्ण सङ्केत दे सकता है। विशेषज्ञों को अपनी प्रतिभा के बल पर उपबृंहण करना होगा। श्रुति शाश्वत सत्य को कहती है, उस सत्य की युगानुकूल व्याख्या स्मृतिकार करते हैं। वेदविज्ञान को आधार बनाकर नवस्मृति निर्मित करने का समय आ गया है।

- (१५) ज्ञान का स्वर है—अपने को जानो । विज्ञान का स्वर है—विश्व को जानो । वेद का स्वर है—जो अपने को जानता है, वही विश्व को जान सकता है और जो विश्व को जानता है वही अपने को जान सकता है क्योंकि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में हैं और जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है । फलितार्थ यह हुआ कि ज्ञान और विज्ञान दोनों को जानना चाहिये—*विद्याञ्चाविद्याञ्च* । कठिनाई यह है कि आपाततः ज्ञान और विज्ञान परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं । इस विरोध का परिहार ही वेद का केन्द्रबिन्दु है । इस विरोध के परिहार बिना अद्वैत की सिद्धि नहीं होती और एकत्व की सिद्धि ही तो मोह और शोक के पार जाने का एकमात्र उपाय है—*तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः* ।
- (१६) ऐसी ही कुछ उदात्त भावनाओं के वशीभूत होकर शास्त्रों का तथा पण्डित मधुसूदन ओझा और पण्डित मोतीलालजी शास्त्री का उच्छिष्ट हमने इस कृति में संजोया है किन्तु ब्रह्मकल्प इन ऋषियों का उच्छिष्टभोजी बनने में हमें कोई सङ्कोच इसलिये नहीं हुआ कि यह सब कुछ ब्रह्म के उच्छिष्ट से ही तो बना है—*उच्छिष्टाज्जिरे सर्वम्* ।
- (१७) सच यह है कि वेदविज्ञान का विषय वैदिक उषा के समान चिरन्तन होते हुए भी नवीन है । इस शताब्दी में प्रारम्भ में पण्डित मधुसूदन ओझा ने तथा उनके शिष्य पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री ने जो अभूतपूर्व कार्य किया वह वेदविज्ञान का प्रारम्भिक रूप ही कहा जायेगा । पिछले दशक में श्री कर्पूरचन्द्र जी कुलिश ने इन दोनों विद्वानों के विस्मृत कार्य को पुनः उजागर किया । उस पर भी यह आपत्ति निरन्तर आती रही है कि यह विषय अन्यन्त दुरूह है । इस विषय की उपयोगिता पर भी प्रश्नचिह्न लगते रहे हैं । जहाँ तक विषय की दुरूहता का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि यह विषय प्राचीन तथा अर्वाचीन अन्याय शास्त्रों के समान ही एक शास्त्र है । चाहे पाणिनीयव्याकरण जैसा प्राचीनशास्त्र हो; चाहे भौतिकी जैसा आधुनिक-शास्त्र, वह बोधगम्य होने के लिये एक अनुशासित अध्ययन की अपेक्षा रखता है । उस अनुशासित अध्ययन के बिना ही वेदविज्ञान को समझने की अपेक्षा करना क्या युक्तिसङ्गत होगा ? उस अनुशासित अध्ययन का प्रवेशद्वार बन सके—इसी आशा से यह ग्रन्थ लिखा गया है । रही बात उपयोगिता की । उसके लिये अनेकानेक विषयों के विद्वानों को अपने-अपने क्षेत्र में एक टीम बनाकर कार्य करना होगा । पश्चिमी विज्ञान भी अपने समस्त चमत्कार एक दिन में नहीं ले आया था । सैकड़ों वर्षों की हजारों लोगों की मेहनत उसके पीछे है । इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जितना श्रम जितने लोगों ने पश्चिमी विज्ञान के लिये किया है उसका शतांश भी श्रम वेदविज्ञान के लिये किया गया तो यह पश्चिमी विज्ञान से शत गुणित अधिक फलदायी सिद्ध होगा । *तथास्तु*

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥